

ISSN 2350 – 1065 MUKTANCHAL

वर्ष 11:, अंक 42, अप्रैल - जून 2024

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल



विद्यार्थी मंच

मूल्य: 100 रुपये

उस पार से.....

पाश

(09 सितंबर, 1950 - 23 मार्च, 1988)



तूफान कभी मात नहीं खाते

हवा का रुख बदलने से
बहुत उछलते, बहुत कूबे
ये जिनके शमियाने डोल चुके थे
उन्होंने ऐलान कर दिया
अब कूबा शांत हो गए हैं
अब तूफान का दम टूट गया है-
जैसे कि जानते ही न हों
ऐलानों का तूफानों पर
कोई असर नहीं होता
जैसे कि जानते ही न हों
तूफानों की बजह
मूल ही नहीं होते

घरन यह घुटन होती है
घरती का मुखड़ा 'गे
धूल में मिलाती है
ओ भ्रमपुत्री, सुनो
हवा ने दिशा बदली है
हवा बंद हो नहीं सकती
जब तक कि घरती का मुखड़ा
टहक गुलजार नहीं बनता
तुम्हारे शमियाने आज गिरे
कल गिरे
तूफान कभी भी पार नहीं खाते।

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-11, अंक - 42, अप्रैल-जून 2024

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय
 डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर
 डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय : सुरेंद्रनाथ कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. विनय कुमार मिश्र : प्राध्यापक, बंगबासी कॉलेज
 डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)
 आवरण : अन्तरिक्ष

प्रबंधन : विनोद यादव, विवेक लाल, विनीता लाल, सरिता खोवाला, परमजीत पंडित, पद्माकर व्यास एवं नगीना लाल दास

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
 कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003
 लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।
 पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

कार्यालय प्रभारी

बलराम साव - 8910783904, 03326751686
 संपादक - 9831497320
 प्रबंध संपादक - 9681105070

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : प्राक्तन प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भट्ट : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदिराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
 BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
 IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320,
 9681105070
 ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये
 सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन-3000 रुपये
 संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-3500 रु.
 डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शोध	06 संस्तुति आलेख	
	07 श्रीनारायण पाण्डेय :	प्रेमचन्द की जुबानी — शिक्षा संस्थान, शिक्षितों एवं युवकों की कहानी।
समीक्षा	12 सेवाराम त्रिपाठी :	व्यंग्य लेखन : ये माजरा क्या है?
	16 राजेन्द्र परदेसी :	निराला की कविताओं में विवेकानंद का भाववाद
	20 डॉ. रवीन्द्र कुमार : अनुशीलन	शिक्षा में आनन्द : सनातन परिप्रेक्ष्य
	23 धनेश दत्त पाण्डेय :	सृजनात्मक साहित्य की आनुवंशिकी: सन्दर्भ चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियां भाषा एवं शिल्प
ण	33 डॉ. रीता सिन्हा : शोधार्थी की कलम से	21वीं सदी का कथा साहित्य: बदलता परिदृश्य
	41 -श्वेता शर्मा :	समकालीन हिंदी उपन्यासों में वृद्ध जीवन की विडंबनाएं (चयनित उपन्यासों के आधार पर)
सृजन	47 घुंघरू परमार :	हिन्दी निबंध-साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर
	53 श्रद्धा गुप्ता : संस्मृति	हिन्दी का व्यंग्य साहित्य और परसाई
	58 नवनीत मिश्र :	बात निकली है तो फिर . .
	62 आलोक वर्मा : वाले	लफ्जों का संजीदगी से इस्तेमाल करने की सलाह देने प्रख्यात पंजाबी कवि सुरजीत पातर नहीं रहे-
	समय की शिला पर	
	64 नरेश अग्रवाल :	आत्मकथ्य, कविता एवं परिचय
	सरगम के सुर साधे	
	68 नूर मुहम्मद 'नूर' : कहानी	मेरी गज़ल यात्रा
	71 संजय कुमार सिंह :	परिवर्तन
	75 रूपसिंह चंदेल :	बड़े खेल
चा	77 जयराम सिंह गौर : भाषांतर	सही निर्णय
	83 अस्मिता सिंह :	रूसी कवि अन्ना अख्मातोव की कविताओं का हिन्दी अनुवाद

शो ध स मी क्ष ण	पुस्तकायन	
	85 गीता दूबे :	मृदुला गर्ग का उपन्यास : ये नायाब औरतें
	89 निशान्त :	यतीश कुमार की कविता पुस्तक:अन्तसकी खुरचन
	95 संयोगिता वर्मा :	निर्मला तोदी का कहानी संग्रह : रिश्तों के शहर
	99 माला कुमारी :	दाता पीर : साधारण जीवन की असाधारण गाथा
	व्यंग्य	
	101 आशीष दशोत्तर :	अगर ये फ़ैसला है तो फ़ैसला क्या है?
	104 अनूप श्रीवास्तव :	वामन का मंतव्य !
	यात्रा वृत्तांत	
	106 विनोद साव :	महात्मा मार्ग
सृ ज न सं चा र	प्रवासी कलम्	
	115 डॉ. कृष्ण कन्हैया	गज़लें
	कविता	
	117 शैलेन्द्र शान्त :	दृश्य बदल नहीं रहे, लगभग असंभव, खोना-पाना, कालजयी!, रचिये, सुकून, लौटना
	118 राज्यवर्द्धन :	सोना 'सोना' है!, सुख दुःख, सत्ता, काल-चक्र, आम -आदमी, घर, महबूब शहर
	120 अशोक आशीष :	रेत कला, अट्टहास का उत्सव, कैक्टस
	122 अशोक सिंह :	छोटे लोग, दृश्यों में जीवन और जीवन के दृश्य,
	गतिविधियाँ	
	124 गीतांजलि बहुभाषी साहित्यिक समुदाय :	
	124 जर्मनी एवं यू. के. के. बीच साहित्यिक-सांस्कृतिक सेतु बंधन संपन्न	
	125 लेख आमंत्रित	
	परिशिष्ट	
	126 समीक्षार्थ पुस्तके प्राप्त हुई :	

संस्तुति

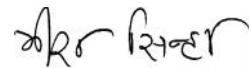
साहित्य के संसार में बाजार की आवाजाही ने भयंकर विडंबना भर दी है।

साहित्य में शोध और अनुसंधान, समीक्षा और सृजन किसी हेतु के अधीन हो गये हैं इसलिए स्वतः स्फूर्त या स्वचालित कुछ भी नहीं है। कसौटियाँ रखी गई हैं योग्यता के माणदंड निर्धारित किए गए हैं, लेकिन उसका स्वरूप इतना बोगस और धाँधली भरा है कि हत्वाक्य रह जाना पड़ता है। विद्यालय से महाविद्यालय तक के साहित्य अध्ययन क्षेत्र में पाठ्यक्रमों का निर्धारण हो सकता है परंतु परास्नातक के पश्चात शोध और अनुसंधान में निर्धारित पाठ्यक्रम हैरान करने वाली बात है। संकीर्ण और सीमित दायरे में शोध क्षेत्र को बाँधने की कवायद अत्यंत बेमानी है। बाजार का जिंदगी और रोटी की रेस में जुटा विद्यार्थी समाज तरह-तरह की निगरानियों से घिरा छटपटा रहा है, मुक्ति कहाँ है दूर-दूर तक कोई उन्हें उत्तर नहीं देता- जिंदगी जहाँ से शुरु होती है – वहीं बड़े-बड़े खड्ड बने हैं – चापलूसी, जी हुजूरी और फालतू बातों की खोज में भटकता मन सच पूछा जाए तो संशयग्रस्त भटकता रहता है। एक शोधार्थी शोध निदेशक के इच्छा क्षेत्र का बँधुआ मजदूर होता है। उसे एक खाके के अंतर्गत बँधकर काम करना होता है, अतः स्वयं शोध के संधान से बहुत दूर रह जाता है। शोधार्थी एवं शोध निदेशक के मध्य का संसार आज के समय में अस्सी प्रतिशत ऐसा ही है। विशेषकर हिंदी साहित्य इस रोग से आक्रांत है। दिनों दिन शोध और समीक्षा का दायरा संकीर्ण होता जा रहा है – नई पीढ़ी में काम करने की यांत्रिकता और सोच की गतानुगतिकता इतनी बढ़ गई है कि मौलिकता का सर्वथा अभाव हो गया है। काम कम और ढोल बजाई एवं मुँह दिखाई की प्रवृत्ति अधिक हावी है।

खैर, साहित्य से रोजी-रोटी का संबंध ही अध्येता को यांत्रिक बना रहा है। अर्थ की लीला अपरंपार है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी कुछ कर ले जाने के लिए आर्थिक स्रोत और संयोजन पर जितना श्रम किया जाता है उतना विषय के तहों तक पहुँचने के लिए नहीं किया जाता। प्रचार-प्रसार के ढोल मंजीरों के वगैर श्रम का कोई नाम नहीं होता। मनोयोग से काम करना एक बात है जबकि प्रचारकों की संख्या जुटाना एक अलग ही तरह का तंत्र तैयार करता है जिसमें हासिल कम भटकाव अधिक रहता है।

मुक्तांचल अपनी उद्घोषणा शोध, समीक्षण, सृजन और संचार को लेकर चलने की कोशिश में रत है। हिंदी भाषा और साहित्य के प्रायः सभी वरिष्ठ लेखक भारत ही नहीं, इसके बाहर भी मुक्तांचल में लेखन के स्तर पर सक्रिय हैं। लेखकों का अवदान अप्रतिम है, लेकिन पाठक बहुत कम हैं और शायद कम होते जा रहे हैं, क्योंकि अभिमत का कॉलम प्रायः खाली ही चला जाता है ‘मुक्तांचल’ के माध्यम से मेरी यह अपील है कि सुधीजन न केवल लिखें और प्रतिक्रिया प्रेषित करें।

मुक्तांचल अंक - 43 जुलाई-सितंबर 2024 डॉ. रमेश कुंतल ‘मेघ’ के साहित्य संसार पर आलोकपात करेगा, अनेक वरिष्ठ लेखकों ने अपने आलेख देने की प्रतिश्रुति दी है। आप भी इस मनीषी के कार्य पर अध्ययन एवं मूल्यांकन जुलाई 24 के अंत तक प्रेषित कर सकते हैं।



संपादक

प्रेमचन्द की जुबानी — शिक्षा संस्थान, शिक्षितों एवं युवकों की कहानी।

—श्रीनारायण पाण्डेय

प्रेमचन्द कथाकार ही नहीं थे, स्वाधीनता संग्राम में कलमधारी सिपाही भी थे। उनकी कलम के निशाने पर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद तो था ही, वे शिक्षित एवं शिक्षा संस्थान भी थे, जो स्वाधीनता संग्राम से विमुख थे और उन्होंने स्वदेश निर्माण के लिये विशेष रूप से युवकों का आह्वान किया था। वे चाहते थे कि ये भी स्वाधीनता संग्राम में सकारात्मक भूमिका निभायें। अमृत राय सम्पादित 'विविध प्रसंग' और कमल किशोर गोयनका की पुस्तक 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' में इस तरह के लेख संकलित हैं। वे दुनिया के स्वतंत्रता संग्रामों से परिचित थे, शिक्षितों, शिक्षा-संस्थानों की भूमिका और युवकों की शक्ति और उनके कर्तव्य से भी वे भलीभाँति वाकिफ थे। विचारों में जहाँ गाँधी भक्त थे बोल्शेविस्ट उसूलों के कायल समाजवादी भी थे। उनके इन विचारों की पृष्ठभूमि तत्कालीन स्वधीनता संग्राम की है। उन दिनों उसकी बागडोर महात्मा गाँधी के हाथ थी। मगर समाजवादी विचार धारा का प्रभाव भी कम नहीं था। उनके जीवन काल में ही भारतीय साम्यवादी दल और काँग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन हो चुका था। उन्हें विश्वास था कि हिमालय की चोटियों को पार कर जो रौशनी आ रही है उसे कोई रोक नहीं सकता। यह उन्होंने अपने 'पुराना जमाना' (दौरे कदीम-दौरे जदीद) और 'महाजनी सभ्यता' लेख में लिखा है। हिन्दी प्रदेश में समाजवादी विचार का विस्तार कैसे हो रहा था, इसे रामविलास शर्मा ने विस्तार से लिखा है। प्रेमचन्द इसी विचारधारा से क्रमशः प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपने को समाजवादी कहा भी है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की रण-नीति में गाँधी जी ने 'अनुनय-विनय' को छोड़ कर असहयोग, बहिष्कार, धरना, प्रदर्शन एवं अनशन का रास्ता अपनाया। प्रेमचन्द स्वतंत्रता-संग्राम में गाँधी जी की रण-नीति के समर्थक थे। उन्होंने युवकों, शिक्षितों और शिक्षा संस्थानों के संचालकों से गाँधी जी के आंदोलनों में भाग लेने का आह्वान भी किया था और चेतावनी भी दी थी कि, अगर ऐसा नहीं करते तो वही हालत होगी जो रूस की हुई है।

'भारत में अँगरेजी राज और मार्क्सवाद' से मैं यहाँ इनके तीन आलेखों को उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें युवकों का आह्वान और शिक्षितों को चेतावनी दी है।

1. शिक्षा-असहयोग (आज, 24 मई 1922)
2. युवक कौन है? (युवक, फरवरी 1929)
3. युवकों का कर्तव्य ((हंस, मार्च 1930)
4. आजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं। (हंस, अप्रैल 1930)

‘शिक्षा असहयोग’ प्रेमचंद ने उस समय लिखा जब गाँधी जी ने 1921 में असहयोग आन्दोलन चलाया था। बहुतेरे इस आन्दोलन से सहमत नहीं थे, प्रेमचन्द थे। उन्होंने इस आंदोलन में भाग लेने के लिए युवा विद्यार्थियों का आह्वान किया था। उन्होंने ‘शिक्षा -असहयोग’, लेख में लिखा कि युवकों में उत्साह है, उनका खून ताजा है वे आदर्श के लिए, जाति के लिए, कर्तव्य के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं। वे स्वार्थपरता के भाव से मुक्त हैं। उन्हीं पर राष्ट्र के उद्धार का भार है। वे स्वयं अपने कर्तव्य को समझते हैं। अगर हमारे युवक-गण नौकरी की खैर मनाने वाले अध्यापकों और स्वार्थसेवी पिताओं की आशाओं का पालन न करें तो इसमें क्या आपत्ति है। यदि हमारे युवक कर्तव्य का उल्लंघन करें और अपने को इस राष्ट्रीय संग्राम से हटा लें तो यह उनके लिए असीम लज्जा की बात होगी। ‘क्या सारी शिक्षा कॉलेजों के भीतर और ग्रन्थों के पृष्ठों में भरी हुई है, क्या विस्तृत जगत में, राष्ट्रीय संग्राम में, जनता की सेवा में, निर्बलों की सहायता करने में, प्रतिकूल समस्याओं का सामना करने में, आत्मिक और नैतिक शिक्षा उपलब्ध नहीं होती? ऐसा करना वस्तुतः अन्याय है।’ प्रेमचन्द युवक विद्यार्थियों को राष्ट्रीय संग्राम में शरीक होने के लिए उत्साहित कर रहे थे, किन्तु उन शिक्षा संस्थानों और उसमें कार्यरत प्रोफेसरों की आलोचना भी कर रहे थे, जिसकी उपज ये युवा विद्यार्थी थे। आलोचना इसलिए कि अभिभावक और अध्यापक दोनों विद्यार्थियों को राष्ट्रीय-संग्राम से दूर रखना चाहते थे। ऐसा करने से विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता का अभाव देखा जा रहा था। इस मानसिकता से उबरने के लिए उनमें आत्मविश्वास पैदा करने की जरूरत थी। इसके लिए उन्हें इस शिक्षा-पद्धति से मुक्त करना चाहिए था।

‘हम अपने ऊपर विश्वास करना सीखें। हमें यह मालूम होना चाहिए कि हम निरे मिट्टी के ढेले

नहीं हैं। हमें भी परमात्मा ने वही शक्तियाँ दी हैं जो औरों को दी हैं। हम भी संसार में कुछ करने आये हैं। पराधीनता और परवशता ही हमारे भाग्य में नहीं लिखी हुई है। अतएव हमें यदि जाति में स्वाधीनता का उत्थान करना है, तो यह अनिवार्य है कि हमारे बाल-वृन्द वर्तमान परिस्थिति रूपी जलवायु से पृथक रखे जायें। वह इस भ्रम में न पड़े कि हमारे भाग्य के विधाता, हमारे त्रिद्वि-सिद्धि के दाता शासक लोग हैं। उन्हीं की सनद पर उन्हीं की दया पर हमारा जीवन निर्भर है। जिस शिक्षा-प्रणाली के हाथों, जाति का जो सर्वनाश हो रहा हो, क्या उसे छोड़ना और उसे छोड़ने की प्रेरणा पाप कहा जा सकता है।”
पृ. (क. अ. सा. 502)

‘शिक्षा असहयोग’ लेख में प्रेमचन्द ने विद्यार्थी युवकों के लिए जो कुछ कहा, वह कहा ही, अपने बाद के दो आलेखों में और भी दमदार शब्दों में कहा। ‘युवक’ फरवरी 1929 में लिखे लेख ‘युवक कौन है’ में लिखा, ‘बुजुर्गों की पहचान बुद्धि है उम्र नहीं। बूढ़े बेवकूफ भी होते हैं, उसी तरह जवानों की पहचान उम्र नहीं, कुछ और है। हम उसे जवान नहीं कहते, जिसकी उम्र, 18 से 25 वर्ष तक हो, जो सिर से पैर तक फैशन में सजा हुआ विलासिता का दास, जरूरतों का गुलाम, स्वार्थ के लिये गधे को मामा कहने को तैयार हो। वह न जवान है, न बूढ़ा, वह मृतक है, जिससे न जाति का उपकार न देश का भला हो सकता है। हम जवान उसे कहते हैं, जो चाहे 20 का हो, चाहे चौबीस का हो, पर हिम्मत का धनी, दिल का मजबूत आन पर मर जाए पर किसी का एहसान न ले। सिर कटा दे, पर झुकावे नहीं, आफतों से घबड़ाये नहीं, बल्कि उसमें कूद पड़े, छह महीने का सुगम मार्ग न चलकर, छट दिन का जान जोखिम मार्ग पकड़े?, नदी के किनारे नाव के इन्तजार में खड़ा न हो बल्कि उछलती लहरों पर

सवार हो जाय, नाव सामने देखकर भी उसे ठुकरा दे और अगम्य जल राशि में कूद पड़े, प्रवाह अगर पूरब की ओर हो तो पश्चिम का रुख करे, कठिनाइयाँ न हों तो उनकी सृष्टि करे। जो संतोष को संतोष समझे, विश्राम को विष का प्याला; जिसे संघर्ष में विजय का आनन्द प्राप्त हो, उद्योग में साफल्य का उल्लास।

युवक वह है, जो अपने ऊपर असीम विश्वास रखता हो, जो अकेला चना होकर भी भांड फोड़ने की हिम्मत रखता हो, जो उपासना करे तो शक्ति की, आराधना करे तो स्फूर्ति की, जिसकी नाड़ियों में रक्त की जगह आकांक्षा हो, हृदय में प्राण की जगह अशान्ति; जो रुढ़ियों का शत्रु और परिपाटी का नाशक हो; जो पाखण्ड के पीछे हाथ धोकर पड़ जाये और जब तक उसका नामोनिशान न मिटा दे, चैन न ले।

युवक वह है, जिसपर सदैव कोई न कोई धुन सवार रहती है, आज अगर भंग पीने पर आये तो इतनी पी ले कि सिर पैर की सुधि नहीं, सोने पर आये तो दोपहरी दिन की खबर नहीं, खेलने पर आये तो रात आँखों में कट जाये, हँसने पर आये तो छत्तें हिल जायें, पढ़ने पर आये तो भोर हो जाये; किसी से दोस्ती हुई तो उस पर प्राण तक निछावर कर दिये; दुश्मनी हुई तो खून के प्यासे हो गये। वह जो काम करता है उत्साह से उमंग से, दिलोजान से, बेदिली से दुविधा में पड़कर कोई काम नहीं करता।

युवक वह है जिसे कल की चिन्ता नहीं सताती, जो आज में मग्न रहता है, 'कल' को कल पर छोड़ता है, जिसके जीवन में सभी दिन आज है कल का कहीं अस्तित्व नहीं। जिसके जीवन का सार है, उमंग! उमंग ! उमंग! ऐसे युवक को हम प्रणाम करते हैं। (हंस युवक, फरवरी 1929)

प्रेमचन्द विश्व में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों में युवकों की भूमिका देख रहे थे। भारत में भी खुदीराम जैसे युवकों का बलिदान, उनके सामने था। अतएव उन्होंने युवकों को इन आलेखों से उसी तरह शक्ति की याद दिलाई, उनकी पीठ ठोंकी, जैसे जामवन्त ने हनुमान से कहा था- 'का चुप साधि रहे, बलवाना'। (रामचरितमानस)

युवकों में राष्ट्रीय-भावना के प्रति विमुखता देख कर उन्होंने तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की आलोचना की थी। कहा था कि यदि हमें जाति में स्वाधीनता का उत्थान करना है तो यह अनिवार्य है कि हमारे बालवृन्द वर्तमान परिस्थिति रूपी जलवायु से पृथक रखे जाएँ। वह इस भ्रम में न पड़ें कि हमारे भाग्य विधाता, हमारे रिद्धि-सिद्धि के दाता शासक लोग हैं। इस मानसिक निर्जीवता को हटाने के लिये हम अपने ऊपर विश्वास करना सीखें। हमको यह मालूम हो कि हम निरे मिट्टी के ढेले नहीं हैं। हमें भी परमात्मा ने वही शक्तियाँ दी हैं। हम भी संसार में कुछ करने के लिए आये हैं। पराधीनता और परवशता ही हमारे भाग्य में नहीं लिखी हुई है। 'वर्तमान शिक्षा प्रणाली इस आत्म-भीरुता का मुख्य साधन है। वह हमारे व्यक्तित्व का, हमारे पुरुषत्व का, हमारे आत्मगौरव का नाश कर देता है।' हमारा शिक्षित समाज आज शासक जाति का दाहिना हाथ बना हुआ है। इसका प्रभाव हमारे युवकों पर पड़ता है, अतएव इससे मुक्त होने के लिए हमें जातीय शिक्षा संस्थानों का निर्माण करना होगा।

प्रेमचन्द 'युवक कौन है' लिखकर रुके नहीं। स्वतंत्रता संग्राम में युवकों के कर्तव्य पर बराबर सोचते रहे। हंस' के मार्च 1930 के अंक में 'युवको का कर्तव्य', फिर लिखा। "युवक नई दशाओं का प्रवर्तक हुआ करता है। संसार का इतिहास युवकों के शौर्य का इतिहास है। जिसके हृदय में जवानी का

जोश है, जीवन की उमंग है अगर वह हिम्मत छोड़ कर बैठा रहेगा, तो मैदान में आयेगा कौन? क्या उसका उदासीन होना इन्साफ की बात है? आखिर यह संग्राम किस लिए छिड़ा है? कौन इसका फायदा उठायेगा? कौन इस पौधे का फल चखेगा? बूढ़े चन्द दिनों के मेहमान हैं, अब युवक ही स्वराज का सुख भोगेंगे तो क्या यह इन्साफ की बात होगी कि युवक दुबके बैठे रहें। हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि वे गुलामी में खुश हैं, और अपनी दशा को सुधारने की लगन उन्हें नहीं है। यौवन कहीं भी इतना बेजान नहीं हुआ करता। स्वराज वास्तव में तुम्हारे लिए है, और तुमको उसके आन्दोलन में प्रमुख रूप से भाग लेना चाहिए।

“लेकिन केवल इतना न समझो कि केवल स्वराज का झंडा गाड़कर, और इन्कलाब की हाँक लगा कर तुम अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हो। तुम्हें मिशनरी जोश और शौर्य के साथ इस काम में जुट जाना चाहिए। संसार के युवकों ने जो कुछ किया है, वह तुम भी कर सकते हो। क्या तुम स्वराज का संदेश गाँवों में नहीं पहुँचा सकते। हम सच कहते हैं, एम. ए या एल. एल-बी. हो जाने के बाद, वह अगली तालीम, अगला अनुभव इतना हितकर साबित होगा, जितना पुस्तक-ज्ञान से उम्र भर भी नहीं हो सकता। तुम मर्द हो जाओगे।” (पृ. 519-20)

आज के युवक जिस शिक्षा-प्रणाली की उपज हैं, प्रेमचंद उनकी एवं उसके प्रोफेसर्स की आलोचना करते हैं। वे गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, गुरुकुल काँगड़ी के समान विद्यालय चाहते हैं, जहाँ के छात्र जान हथेली पर रख कर मैदान में उतर पड़े हैं, पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा है? प्रेमचन्द का कहना है, “इसकी हमें खबर नहीं। यूनिवर्सिटियों से भी कोई प्रोफेसर आगे, बढ़ा! कहाँ की बात! अपने लोग यह रोग नहीं पालते। आनन्द

से भोजन करें, ताश खेलें, ग्रामोफोन या रेडिओ का आनन्द उठाएँ, या इस झंझट में पड़े। जिन्दगी सुख भोगने के लिए है, झींकने के लिए नहीं।

काश! यह यूनिवर्सिटियाँ न खुली होती, काश! आज इनकी ईंट से ईंट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। स्वाधीन भारत ऐसे विद्यालयों की जड़ खोद कर फेंक देगा।

छात्रों के बारे में कहते हैं जब हम उनके विलास को देखते हैं, तो उनके विषयों हमें बड़ी चिन्ता होती है। वह यह समझ रहे हैं कि विलास की चीजें बढ़ा लेने से ही जीवन का आदर्श ऊँचा हो जाता है। विश्वविद्यालय से निकलते ही उन्हें नौकरी चाहिए। इसके लिए खुशामद और हर तरह की नकपिसनी करने को तैयार हैं। नौकरी मिल गई तो उन्हें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए ऊपरी आमदनी की फिक्र होती है। उनकी आत्मा की स्वतंत्रता शौक की बेदी पर चढ़ा दी जाती है। दुनिया के जितने बड़े महापुरुष हो गये हैं या हैं, वे जीवन की सरलता का उपदेश भी देते आये हैं या दे रहे हैं, मगर हमारे छात्र हैं कि, हैट और कॉलर की फिक्र में ही अपना जीवन बिता रहे हैं।”

प्रेमचन्द ने ‘हंस’ अप्रैल 1930 में लिखा ‘आजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं।’ इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलाई खोल दी। हमने आशा की थी कि, जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्र वर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं वैसे यहाँ भी होगा। पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित-समाज चाहे वह सरकारी नौकर हो या वकील, या प्रोफेसर या छात्र, सभी अंग्रेजी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्यानबे सैकड़ ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बन्द हैं। पर निराशा में भी

आशा लगाये बैठे हैं कि शायद हमारी ही तकदीरें जाग जायें।

हमारा वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की सूरत से गीदड़ भागे। हमारा यह अरमान ही रह जाएगा कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। बस मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गये और घर आये। उन्हें दीन - दुनिया से कोई मतलब नहीं। कभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल जाए तो मारे खुशी के पागल हो जायें। गोरी सूरत देखी और माथा जमीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देश-द्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा।

वह जनता जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी और आन्दोलनों की तरह इस आन्दोलन में भी आगे आये हैं। हमारे छोटे-छोटे दूकानदार, मजदूर, पेशवा ही सैनिकों की अगली सफ़ा में हैं। लक्षण कह रहे हैं। सूट-बूट वाले अंग्रेजों के गुलामों की वही हालत होने वाली है, जो रूस में हुई है। यह लोग खुद अपने पैर में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ़ कर देती है, पर देशद्रोह को वह कभी मुआफ़ नहीं करती। (भा 2 पृ. 656) अन्त में प्रेमचन्द कहते हैं, ऐसे विद्यालय जिनकी ये शिक्षित उपज है ये विद्यालय नहीं, गुलाम बनाने के कारखाने हैं। स्वतंत्र भारत ऐसे विद्यालयों की जड़ खोद कर फेंक देगा।' (वही पृ. 656)

प्रेमचन्द ने युवकों, शिक्षितों, शिक्षा-संस्थानों के विषय में जो कहा है, आज उसकी चर्चा, गड़े मुरदे उखाड़ना नहीं है। चर्चा इसलिये जरूरी है कि उनकी निगाह स्वतंत्र भारत पर भी थी। सोचा था स्वतंत्र भारत में इन लोगों की अवस्था में परिवर्तन

हो जायगा। आज भारत स्वतंत्र है। हमें देखना है, स्वतंत्र- भारत में इनलागों में कितना परिवर्तन आया है। प्रेमचन्द ने कहा था युवक वह है जो रूढ़ियों का शत्रु और पारपाटी का नाशक हो, जो पाखण्ड के पीछे हाथ धोकर पड़ जाय, और जब तक उसका नामोनिशान न मिट जाय चैन न ले। प्रोफेसरों को देशद्रोही कहा था एवं शिक्षा संस्थानों की जड़ खोद देने की बात कही थी।

मगर स्वतंत्र भारत में क्या हुआ। आँख के सामने है। भारत को स्वतंत्र हुये 75 वर्ष बीत गये। हम आज उसका अमृत महोत्सव मना रहे हैं। मगर इन 75 साल के भारत-भाग्य विधाताओं ने आज भी युवकों को पेट पालने के लिए, नकधिसनी करने और गधे को मामा कहने को मजबूर कर रखा है। पढ़े-लिखों की मानसिकता गाड़ी-बाड़ी तक सीमित है। शिक्षा- संस्थान धन कमाने के कारखाने बन गये हैं। आजादी के बाद सबसे बड़ा हादसा राष्ट्रीयता की हत्या है। हमारे जन-सेवक स्वयं-सेवक बन गये हैं। लोक सेवक अधिकारी बैगन नहीं बादशाह के गुलाम हो गये हैं।

चन्द्रदेव सिंह की एक कविता है 'काले अगरेजन कई, इहइ कारनामैं बा इन्डिया अजाद भइल, भारत गुलामइ बा। अइसन सुराज कतहूँ दुनिया मा न पइबे, कुतिया बा कमरा में, गाइ जरत धामैं में'। चन्द्रदेव सिंह (कलकतिया)

जति, धर्म, लिंग, क्षेत्र की रेवड़ी बाँटी जा रही है, सभी सशक्त हो रहे हैं, असक्त हो रही है राष्ट्रीयता। इसके लिए गाँधी और बोल्शेविस्ट, प्रेमचंद की जरूरत है। जरूरत है, स्वतंत्र भारत में ऐसे युवकों की जो प्रेमचंद के स्वतंत्र भारत का निर्माण करें।

संपर्क : 412 / 3F, बक्सी खुर्द, प्रयाग राज, पिन. 211006 उ.प्र. मो. 8004040576

व्यंग्य लेखन : ये माजरा क्या है?

-सेवाराम त्रिपाठी

इस दौर में व्यंग्य पर, व्यंग्य लेखन पर, व्यंग्य लेखन की बारीकियों पर भारी विमर्श हो रहे हैं। कई प्रकार की बातें हो रही हैं लेकिन थोड़ा सा सच कुछ कह दो तो न जाने कितनों के मुंह में जाते हैं। अच्छी खासी नाराज़गी भी जताई जाती है। दुर्भाग्य से विमर्श केवल बातों का जरिया बनता जा रहा है, किसी सुधार और बैचैनी का नहीं। विमर्श में व्यंग्य लेखन की असली और अंदरूनी बैचैनी को नहीं समझा जा सकता। लेकिन अंदर ही अंदर एक खदबदाहट और धुकधुकी भी जारी रहती है। आखिर सच कहीं न कहीं तो रहेगा ही, झूठे आवरणों में छिपाने के बाद भी। सत्य जब अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता में आता है तो झूठ को धूल चटा देता है। लेकिन इस दौर में व्यंग्य की हालत इस समय की सत्ता की तरह हो गई है। प्रश्न करो तो नाराज़ होकर कई प्रकार की कार्रवाइयाँ भी सूरमा करने लगते हैं। कहीं ई.डी. की चढ़ाई हो जाती है कहीं सी.बी.आई. की। प्रश्न करते ही विधर्मी की कैटेगरी में फेंक दिया जाता है। पाकिस्तानी धरती की ओर ठेल दिया जाता है। व्यंग्य को बहुत हल्की चीज़ बना दिया गया है। व्यंग्य का परिप्रेक्ष्य, मनोभूमि और आयाम बहुत व्यापक होते हैं। उसे सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव की हकीकत के रूप में भी देखा जाता है। व्यंग्य लेखन मात्र सुधारों से संतुष्ट नहीं हो सकता। पता नहीं लोग किससे नाराज़ हैं और न जाने किससे क्या उम्मीद लगाए बैठे हैं? व्यंग्य लेखन दक्षिण, मध्य और वाम की गड़गड़ में फंस गया है। उसे जन समस्याओं से भी कोई वास्ता नहीं है। लिखते जाओ, लिखते जाओ और छपते जाओ। पुरस्कृत-सम्मानित होते जाओ। प्रशंसा करते जाओ और आरती उतारते उतारते जाओ, जहां तक पहुंचना चाहो पहुंच जाओ। वास्तविकताओं को अनदेखा करते जाओ और जीभर कर गनगनाओ। व्यंग्य लेखन के बड़े-बड़े कॉम्प्लेक्स हैं और बड़ी-बड़ी दुकानें हैं। जिसकी कोई हैसियत नहीं वो भी व्यंग्य लेखन का जयकारा लगा रहे हैं और अपने लिए मंच सज्जा का बेहतर इंतज़ाम किए हुए हैं। वे सुरक्षित जगह आवंटित कराने में भिड़ रहे हैं। कुछ एकदम चिरकुट लोगों ने व्यंग्य को पेटेंट अपने नाम से करा रखा है। व्यंग्य लेखन में सक्रिय होकर या आवाजाही कर न जाने क्या तलाशा जा रहा है और न जाने कौन सा साम्राज्य खड़ा किया जा रहा है। इतने सवाल गुत्थम-गुत्था हैं कि अभिमन्यु को कैद करने के लिए रचे गए चक्रव्यूह की तरह वो हो गए से लगते हैं। और इस तरह हर हाल में व्यंग्य लेखन की हत्या का असफल प्रयास किया जा रहा है। देखा जा रहा है कि व्यंग्य लेखन का एक राष्ट्रीय वर्कशॉप चल रहा है और कुछ तो उसी की सफलता में औंधे-सरके हो रहे हैं। और न जाने कितने प्रकार के खजाने लूट रहे हैं।

ज़ाहिर है कि अपनी-अपनी नाप के अनुसार व्यंग्य लेखन संभव बनाने की कोशिश चल रही है। मुद्दे उठाए जाते हैं लेकिन सक्षम लोग उनको हर तरफ से ढंक देते हैं या कान पकड़कर छोटे बच्चे की तरह डांट कर बिठा देते हैं। कुछ तो ऐसे भी

हैं जो गाय को भी दुह रहे हैं और बैल को भी। व्यंग्य को बार-बार धरती में गाड़ने के प्रयत्न भी हो रहे हैं। विचार, मूल्य और निष्ठाएं दो कौड़ी की कर दी गई हैं। शुचिता का सत्यानाश एक विशेष मुहिम की तरह लगातार हो रहा है। गई भैंस पानी में की तरह। संस्कृति, साहित्य, कलाएं, समाज, राजनीति और धर्मनीति में सेंधमारी एक आम चीज़ हो गई है। बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध कहे जाने वाले ठट्ठा मारकर हंस रहे हैं। यह प्रवृत्ति बहुत घातक और मारक है। इसी के साथ वह जानलेवा भी होती जा रही है। तय है कि व्यंग्य मात्र उत्साह से नहीं लिखे जा सकते। जिसमें शऊर नहीं जिसमें गुर्दा नहीं है या ताकत नहीं है अथवा हौसला ही नहीं है वह व्यंग्य लेखन इस जन्म को तो छोड़िए सात जन्मों तक नहीं लिख सकता। गारंटी जानकार भी दे सकता है। जब मूरख दे रहें हैं और तड़ीपार इरादे दे रहें हैं तब कोई क्या कर सकता है। यहां तो समझने की ज़रूरत है कि ऐसे लोग सिंहासन बत्तीसी पर काबिज़ हैं। कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। कुछ उसी तरह जिन्हें प्रजातंत्र की ए, बी, सी, डी नहीं आती, वो साम - दाम - दण्ड - भेद से तरह - तरह के हथकंडे अपना रहे हैं। वैसे जेल के सीखवों में बंद करना शासन करना नहीं होता। वह तो एक भय की दूकान का मामला है। असली होता है लोगों के दिलों में जगह बनाना, यहां तो मन के हवाई जहाज अत्यंत वेग से उड़ रहे हैं। कुछ वैसी ही दशा बेचारे व्यंग्य की हो गई है। मेरे पाले में आओ तुम्हारे आर्टिकल छपेंगे। किताबें प्रकाशित की जाएंगी। पुरस्कार और सम्मान से लाद दिए जाओगे। कौन बोडम बकस इस जाल में फंसकर महान कोटि में नहीं आना चाहेगा। हो यह रहा है कि जिनको लात मारकर भगा देना चाहिए वो बड़े - बड़े रत्नधारी हो रहे हैं और जिन्हें रत्न मिलने चाहिए उनको हुमक- हुमककर लात मारी जा रही है। उन्हें नागरिक की दुनिया से और व्यंग्य लेखन की दुनिया से खारिज किया जा रहा है।

व्यंग्य लेखन में एक सलीका होता है और एक तरीका भी। सभी ओर से डरे हुए लोग कहने लगे हैं कि इसमें खुलकर नाम नहीं लेना चाहिए।

हमारे अग्रेजों के तमाम उदाहरण हैं। मुगले आजम फिल्म का गीत याद कर रहा हूं - “जब प्यार किया तो डरना क्या/प्यार किया कोई चोरी नहीं की/छुप छुप आहें भरना क्या/” उसे मैं कह सकता हूं कि जब व्यंग्य लिखा तो डरना क्या। व्यंग्य डर - डर कर नहीं लिखा जा सकता। वह थथर-निपुण का इलाका नहीं है। यानी वहां सब कुछ डंके की चोट पर है। जो डरा वो मरा। और जो मरा वो बुताना हो जाया करता है।

दुर्भाग्य से हमारी जो शक्ति अच्छा और सच्चा व्यंग्य लिखने में खर्च होनी चाहिए वो व्यंग्य की संशोधित परिभाषाएं गढ़ने में खर्च हो रही है। जैसे सत्ता व्यवस्था संविधान को कुचलने को तैयार बैठी है। दो तिहाई बहुमत हासिल हो जाए तो कोई बात बने। लगे हैं लोग शासन व्यवस्था की स्पेशल मार्केटिंग की तरह। न जाने कहां - कहां अच्छे समय की खुशफहमियां खोंस रहे हैं। व्यंग्य लेखन में भी मार्केटिंग कंपनी का ओपन सेंटर लांच हो गया है। अच्छे और प्रतिभावान वहां अपनी आत्मा की ऐसी- तैसी करा रहे हैं और स्वार्थों की लीलाओं में आवाजाही कर रहे हैं। जनता के विकास की बेहतरी के लिए, कारगर योजनाओं के लिए नहीं बल्कि वो अपने सिंहासन को बचाए रखने के लिए लगातार प्रयास कर रहे हैं। सिंहासन बत्तीसी राजनीति, समाजनीति भर की नहीं होती बल्कि लेखन कलाओं और व्यंग्य लेखन की भी होती है। तथाकथित धर्माधता की हुंकार के लिए धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देने के लिए भी होती है। वो चुनौती स्वीकार नहीं कर कर सकते ऐसी ही कसम खा रखी है। जैसे सत्ताएं चुस्त - दुरुस्त दिखने की धुन में हर तरह के अनर्गल प्रलाप कर रही हैं। उसी तरह व्यंग्य लेखन में चुटीला - चुटीली प्रक्रिया अपनाई जा रही है। पंच का घोंटा लगाया जा रहा है और भाषा के इलाकों में कूद फांद चल रही है। भाषा की लीला और ताज़गी में किस्म - किस्म के जीवंत सच और यथार्थ के वध किए जा रहे हैं। ज़मीर, जीवन और पक्षधरताओं को ठिकाने लगा कर उत्सव उगाए जा रहे हैं। यह लगा लगी की बेला है।

हम व्यंग्य लेखन में हो रहे परिवर्तन को, चुप्पी को, बच - बचकर भागकर निकलने को साधारण रूप में नहीं ले सकते। यह समझना ज़रूरी है कि ये सब योजनाबद्ध है। ज़िम्मेदार ही चोरी कर रहा है या करवा रहा है लेकिन भयानक शांति का वातावरण खींचे हुए है। वे बहुसंख्यक तमाशबीनता की ऑपरेटिंग कर रहे हैं। यह घटियापन आगे चलकर क्या गुल खिलाएगा। साफ़- साफ़ कुछ कहा नहीं जा सकता। स्वामी विवेकानंद के शब्द याद आ रहे हैं - “मरी हुई मछली धारा के साथ बहती है लेकिन जीवित मछली धारा के विपरीत तैरती है। यदि आप जीवित हैं तो गलत का विरोध करना सीखें।”

मैं नहीं जानता कि व्यंग्य के बारे में व्यंग्यकारों की क्या समझ है? अनेक लोग अच्छा लिख रहे हैं लेकिन कुछ तो मात्र टिप्पणीबाज़ी कर रहे हैं और व्यंग्य की हनन-हनाई की लीला कर रहे हैं। व्यंग्य के बारे में इतना ही जानता हूँ कि भयभीत होकर और डर के साए में व्यंग्य लिखना किसी भी सूरत में संभव नहीं हो सकता है। प्रतीक, रूपक और मिथ उड़ेल देने से भी व्यंग्य हासिल नहीं हो सकते। फैंटेसी की घुटकी पकड़कर भी व्यंग्य नहीं साधा जा सकता। जो डरते हैं उन्हें व्यंग्य की दुनिया से ही बचना चाहिए। और चार योजन दूर खड़ा होना चाहिए। और यह भी मान लेना चाहिए कि यह फील्ड उनके लिए है ही नहीं। व्यंग्य बचा - बची की दुनिया नहीं है। व्यंग्य लेखन किसी भी सूरत में थथोला-थथाली यानी स्पर्श सुख की चीज़ नहीं है। व्यंग्य लेखन को अपने नाम पेटेंट कराने की प्रवृत्ति से भी बचना चाहिए। हांलाकि चाहिए शब्द बड़ा उत्तेजक और मारक होता है और न जाने कितने इसके हथ्थे चढ़ गए, लेकिन प्रयास करने के लिए आमंत्रित भी करता है। और न जाने कितने प्रकार की मारा मारी भी करता है। वो हूंकने-गुर्रने भर की दुनिया नहीं है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि कुछ लोग सोचते हैं कि किसी का नाम लेने से रचना लिमिट में हो जाएगी। क्या कहूँ इस मामले में कायदे से आप रो भी नहीं सकते। वो व्यंग्य किसी भी सूरत में सीमित

नहीं होता है और न उसका दायरा कम होता। और न उसकी मारक क्षमता में कमी आती। हां, नाम का जाप नहीं करना चाहिए, उसके इस्तेमाल का रचनाकार में शऊर भी तो होना चाहिए। कहावत है कि सिखए पूत दरबार में सफल नहीं हुआ करते। अपवाद को छोड़कर व्यंग्य लेखन भर में नहीं किसी भी लेखन और कलाओं में उसका व्यवहार होता है। नाम का प्रयोग हो और इस्तेमाल की तमीज हो तब। हरिशंकर परसाई के लेखन में इसे आसानी से देखा जा सकता है। कॉलम में भी और अन्य लेखन में भी। यह अपनी - अपनी समझ की सीमा रेखा है। नागार्जुन ने ऐसी तमाम कविताएं लिखी हैं जैसे - “इंदु जी, इंदु जी क्या हुआ आपको/बेटे को तार दिया, बोर दिया बाप को /.. नफाखोर सेठों की अपनी सगी माई आप/ काले बाज़ार की कीचड़ आप/सुन रही गिन रही/ हिटलर के घोड़े की एक - एक टाप को/” कितने कार्टून बने हैं। इस तरह के राग नहीं छेड़े जाने चाहिए। कुछ लोग राग छेड़ने में ही प्रवीणता प्राप्त कर चुके हैं।

व्यंग्य लेखन के बारे में मेरी एक सोच यह है कि वह अपने आप में एक गंभीर समीक्षा है और बेहद गंभीर कर्म है। व्यंग्य का इस्तेमाल कोई भी कर सकता है लेकिन उसकी भूमिका की समझ को ही नहीं बल्कि उसके हेतुओं की पकड़ की रेखांकित करने की क्षमता विरलों में ही प्रवीणता के साथ पाई जा सकती है। किसी लार्ज स्केल में नहीं प्रोडक्शन हाउस के रूप में वह देखा परखा जाने लगा है क्योंकि लोगों ने अपनी संकीर्णताओं की वजह से उसे सरल मानने वालों की एक लंबी कतार है। उदय नारायण तिवारी ने अपने अप्रकाशित निबंध व्यंग्य और समाज में इसे उजागर किया है। उनके शब्द हैं - “किसी भी साहित्य में सामाजिक चेतना के स्पष्ट दर्शन यदि आप करना चाहते हैं, तो वह आपको उसकी व्यंग्य रचनाओं में मिलेंगे। इन रचनाओं में समाज की तात्कालिक स्थितियों एवं परिस्थितियों का जैसा स्पष्ट वर्णन मिल सकेगा, वह साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं।” इस निबंध का हवाला मलय जी ने अपनी किताब व्यंग्य के सौंदर्य शास्त्र में दिया

है। व्यंग्य लेखन चाहे जितना छोटा हो वह सामाजिक सरोकारों, उम्मीदों और लक्ष्यों के सर्वेक्षण के बाद ही लिखा जाता है। व्यंग्य लेखन को नासमझी के कारण हास्य - विनोद मसखरी और न जाने किस किस में लपेट दिया जाता है। व्यंग्य में असीमित संभावनाएं हैं। वागवैदग्ध्य, विडंबना, कटाक्ष, भर्त्सना, ताना और उपालंभ भी हुआ करता है। व्यंग्य किसी भी गली से निकल सकता है। व्यंग्य की समूची फजीहत नासमझी और हास्य विनोद की अनावश्यक मिलावट यानी अमसा-खमसी के कारण ही यह दुर्गति हो रही है।

व्यंग्य अच्छी समझ और सच्ची आलोचना की सामाजिकता और लोकतांत्रिकता की समझ-बूझ के बिना किसी भी सूरत में संभव नहीं हो सकता। ज़ाहिर है कि वह एकदम आलोचना के बगल में मुस्तैदी से बिना तामझाम वाली एक विशिष्ट सत्ता है जिसका काम गंभीर आलोचना के बिना संभव नहीं है। अच्छा व्यंग्य लेखन दृष्टि और आलोचना अगल-बगल खड़ी सार्थकताएं या वास्तविकताएं हैं। इस पर विचार-विमर्श होना चाहिए। अन्यथा दोनों का खूंट निपाट हो जाएगा। इसके बाद भी यदि ज़रूरत है तो आलोचना के लिए स्पेस की तलाश हो। यह अनुरोध करना ज़रूरी है कि व्यंग्य लेखन कोई ऐसा-वैसा काम नहीं है। वह किसी भी सूरत में फुगगा उड़ाना नहीं है। वह बहुत गंभीर काम है। उसे संकीर्णता की राह से नहीं पाया जा सकता। दुर्भाग्य से न तो ठीक से व्यंग्य के औजारों या टूल्स का इस्तेमाल हो रहा और न आलोचना के प्रतिमान, टूल्स और औजारों का। हांका डालने से नहीं बल्कि दोनों की हैसियत और वास्तविकताओं को समझने से ही यह संभव है। भेड़िया आ गया भेड़िया आ गया, इसका नारा बुलंद करने से यह संभव नहीं हो सकता। बहुत सारे टूल्स हैं। हां, उनका इस्तेमाल ही नहीं किया जाता। व्यंग्य लेखन के इतने रूप हैं कि

लोग उन्हें ढूँढते नहीं और न ही अपनाते हैं। अपने मनोविज्ञान की मंशाएं उड़ाने लगते हैं। यही हाल आलोचना का है। कौआ कान ले गया। अपना कान ही नहीं देखते कि वह वही सही सलामत है। आलोचना की सामाजिकता और लोकतांत्रिकता को लगभग खत्म कर दिया गया है और एक विराट प्रशंसा पुराण का अखंड पाठ जारी है। नाम के अनुसार आलोचना नामक चीज़ के बाजे बजाए जाते हैं और उसका अनुपात विश्लेषण विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। व्यंग्य ही नहीं बल्कि समूची लेखन विधाओं भर की नहीं बल्कि समूची चीज़ों को एक - एक कर स्वाहा किया जा रहा है। इस वस्तुगत संज्ञान और साए में व्यंग्य लेखन की आलोचना की अब बेहद ज़रूरत है क्योंकि इसमें कई तरह के लेजम लपेट इरादे सक्रिय हुए हैं। इस दृष्टि से देखें तो यहां भी आलोचना के बिना जगह नहीं होनी चाहिए न कि किसी की लल्लो-चप्पो और प्रशंसा के लिए। काश! यदि ऐसा हो तो उसका स्वागत किया ही जाना चाहिए। अन्यथा नहीं। यूं तो वर्षों से यही राम रगड़ा चल रहा है।

एक अंतिम बात कही जा सकती है कि जिनके पास व्यंग्य की समझ नहीं है वे न तो अच्छे व्यंग्य लिख सकते हैं, न उसके यथार्थ को पकड़ सकते और न ही उसके बिंदुओं को उजागर कर सकते हैं। वे बेचारे ढंग से व्यंग्य की दिया बत्ती भी नहीं कर सकते। वे जिस तरह की टिप्पणियां करते हैं वे हास्यास्पद होती हैं। वे केवल व्यंग्य लेखन की नाप-तौल कर सकते हैं या लहरें गिन सकते हैं। उनसे ज़्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। वे केवल अपने आपको धोखा दे सकते हैं और बिना किसी मतलब के फूल-पटक सकते हैं या भजन-पूजनिया-कीर्तनिया संसार में अंकरा-कुहर कर सकते हैं। लेकिन, कोई उनके भरोसे नहीं रह सकता और न रहा जा सकता है।

संपर्क : रजनीगंधा-6, शिल्पी उपवन, श्रीयुत नगर, रीवा (म.प्र.) 486002, मो. 7987921206

निराला की कविताओं में विवेकानंद का भाववाद

-राजेन्द्र परदेसी

रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय आध्यात्मिकता का उत्थान किया। इन्होंने एक ओर राष्ट्रीयता का प्रचार किया तथा दूसरी ओर धर्म के सच्चे स्वरूप को व्यावहारिक रूप में उपन्यस्त किया। इनके गहन चिंतन और आध्यात्मिकता की हिन्दी साहित्य पर गहरी छाप है।

विचारात्मक और रचनात्मक साहित्य के निर्माता सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के गद्य-पद्य को पढ़ने से मालूम होता है कि राम-कृष्ण और विवेकानन्द का प्रभाव उन पर बहुत गहरा रहा है। अपने आरंभकाल में निराला विवेकानन्द के भाववाद से अधिक प्रभावित रहे। निराला ने उसी प्रभाव में जीवन और समाज सम्बंधी समस्याओं की व्याख्या कर अपने भाववादी चिंतन को इन्सानियत में कार्यशील किया। सन 1922 ई. में निराला कलकत्ता स्थित रामकृष्ण मिशन से प्रकाशित होने वाले 'समन्वय' नामक पत्र में नौकरी करते थे। निराला का व्यक्तित्व बड़ा महनीय था। विवेकानंद और निराला में अद्भुत साम्यता देखने को मिलती है। दोनों में एक भव्य गरिमा, अथाह शक्ति, वीरवान भाव, निडरता, निर्भयता, सौन्दर्य और अद्भुत निष्ठा है।

विवेकानन्द और निराला भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता रहे हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति के उत्थान में दोनों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करनेवाले स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारतीय जनता का धर्म पर से विश्वास उठता जा रहा था। हताशा और निराशा से घिरी हुई जनता दिनोदिन अंधकार के गर्त में डूब रही थी। हिन्दू संस्कृति का अधःपतन हो रहा था। रवि बाबू ने उचित ही कहा है कि 'यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।' क्योंकि अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। इस सम्बन्ध में रामधारी सिंह दिनकर के उद्गार उल्लेखनीय हैं- "विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते हैं।"

हिन्दी साहित्य के युग-प्रवर्तक कलाकार महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का युग भी वही है जो स्वामी विवेकानन्द का समय रहा है। निराला आधुनिक हिन्दी

के पहले और अब तक के सम्भवतः अंतिम सम्पूर्ण कवि हैं। तुलसीदास के बाद निराला ही वह कवि है जिसके काव्य से समय का सत्य अपनी सम्पूर्णता में बोलता हुआ सुनाई देता है। जन जागरण से, सम्बंधित गीतों की भरमार निराला काव्य की प्रधान भावाभिव्यक्ति है। वे पौरुष के, पुरुषार्थ के, मानव की महिमा के कवि हैं। मानवता विजयिनी हो, सदैव उसकी यह कामना रही है- ‘अभी न होगा मेरा अन्त’ का क्रान्ति मूलक आह्वान निराला की जिजीविषा और पौरुष-शक्ति का हमें परिचय देती है। इससे जीवन विमुख जनता के हृदय में आन्तरिक शक्तियाँ जागृत हो उठीं। वे नवजागरण काल के कवि हैं। नवजागरण के सभी कवियों ने भारत को पराधीनता के बंधन से मुक्त होने की कामना की है। निराला काव्य में राष्ट्रीय भावना का धरातल बड़ा विस्तृत और बहुरंगी है। निराला ने अनेकानेक गीतों में भारत गौरव का गान, सरस्वती बंदना, माँ भारती का स्मरण कर जातीय जीवन में उत्तेजना के प्राण फूँके हैं। भारतीय जन मानस में उद्बोधन का संचार करते हुए कवि अपने प्रबन्ध काव्य ‘तुलसीदास’ में जागरण का संदेश देते हुए आह्वान करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने संदेश को वैतालिक बनकर मुखर किया है। “जीवन की दृष्टि से निरालाजी दुर्लभ सीप में पले सुडौल मोती नहीं है, जिसे अपनी महार्थता का साथ देने के लिए स्वर्ण और प्रतिष्ठा के लिए अलंकार का रूप चाहिए। वे तो अनगढ़ पारस के भारी शिलाखण्ड हैं। न मुकुट में जड़कर कोई उसकी गुरुता संभाल सकता है और न मदत्राण बनाकर कोई उसका भार उठा सकता है। वह वहाँ है, जहाँ उसका स्पर्श सुलभ है। यद्यपि स्पर्श करनेवाले में मानवता के लौह-परमाणु हैं जो किसी ओर से भी स्पर्श करने पर, वह स्वर्ण

बन जाएगा। पारस की अमूल्यता दूसरों का मूल्य बढ़ाने में है। उसके मूल्य में न कोई जोड़ सकता है और न घटा सकता है।’

जागो आया प्रभात,

बीती वह, बीती अन्धरात।

अद्वैत भावना निराला साहित्य की अन्तर्वस्तु में प्रधान रूप में पाई गई है। परिमल, अनामिका, गीतिका, अर्चना, बेला एवं ‘अणिमा’ इत्यादि में निराला की अद्वैत भावना को देखा जा सकता है। निराला का ख्यातनाम गीत ‘तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर सरिता’ इसी भावभूमि की अभिव्यक्ति करता है।

हर पराधीन देश में राष्ट्रीय भावना का उदय पुनरुत्थान-भावना से होता है। अंग्रेजी साम्राज्य ने भारतीयों के आत्म-गौरव को कुचलने के लिए हर तरह की कोशिश की। उनको बर्बर और असभ्य कहा। उनकी सांस्कृतिक परम्परा को तुच्छ ठहराया। यहाँ तक कि उन्होंने भारतवासियों को अकर्मण्य, परलोक की चिंता करनेवाले तथा सैनिक भाव से हीन बताया। अंग्रेजों ने हर तरह से भारत के इतिहास को विकृत करने की कोशिश की। विवेकानन्द और निराला ने भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का शंखनाद किया। विवेकानन्द ने देश-विदेश में सैकड़ों भाषण दिये। वेदांत, संस्कृति और धर्म का प्रसार प्रचार किया। भारत उत्थान का बीड़ा उठाते हुए देशवासियों में जड़-शुष्क वृत्तियाँ उखाड़ फेंकने का आह्वान करते हुए सिंहनाद किया कि - “आगामी पच्चास वर्ष के लिए जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाए। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक

ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ है, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवता को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं।” वेदांती निराला स्वयं सदाशिव थे और राष्ट्रभक्ति की चेतना ईश्वर भक्ति की अपेक्षा उनमें अधिक थी। इसीलिए कवि ईश्वर की स्तुति न करके भारत के प्रभात सूर्य के अस्त होने पर विषादमय शब्दों में कहता है-

“भारत के नभ का प्रभापूर्ण
शीतलच्छया सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे - तमस्तूर्य दंडमंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।”

निराला कृत ‘तुलसीदास’ प्रबन्ध काव्य की इन पंक्तियों में अतीत भारत के उज्ज्वल इतिहास के साथ वर्तमान भारत पर तमस की भांति छा गये अंग्रेजी साम्राज्य को लेकर कवि हृदय विषाद में डूब जाता है। निराला ने यहाँ पर भारतीय संस्कृति की चेतना के ह्रास का चित्रण करते हुए पुनरुत्थान का संदेश दिया है। निराला विवेकानन्द के स्वर में स्वर पिरोते हुए भारतीय जनमानस को समस्त बन्धनों से मुक्त होने के लिए ‘सत्य का मिहिर द्वार’ देखने एवं उद्घाटित करने की घोषणा करते हैं-

करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार

बहना, जीवन के प्रखर ज्वर में निश्चय
लड़ना विरोध से द्वन्द्व समय
रह सत्यमार्ग पर स्थिर निर्भर।

राष्ट्रीयता के उन्नयन की चेतना एवं नव-निर्वाण की भावना हो तो निराला के काव्य स्वर को नया मोड़ प्रदान करती है। उसमें जीवन का सर्वाधिक वैविध्य सिमट आया है-

देश-काल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष-छविधर।

निराला के मन में सांस्कृतिक उत्थान के साथ-साथ देश-भक्ति का भाव गहन रूप में मौजूद था। अपनी कविता ‘जन्मभूमि’ में उनके हृदय की तन्मयता देखें - ‘जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी।’ निराला के काव्य को जहाँ एक ओर उन्हें विश्व कवि रवीन्द्रनाथ के साहित्य ने नई गीतात्मकता की प्रेरणा दी, वहाँ स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक चिन्तन ने उनकी कविता में एक गाम्भीर्य और गहनता प्रदान की और एक सच्ची मानवीय दृष्टि दी और इस प्रकार उन्हें जीवन में करुणा का आभास हुआ। उनकी अनेक कविताओं में यही मानवीय करुणा उभरकर आयी है। निराला में परम्परा का गौरव बोध सबसे अधिकाधिक पाया जाता है। ‘छत्रपति शिवाजी का पत्र’ मुगलों के जयसिंहों के लिए नहीं परन्तु अंग्रेजी साम्राज्य के आधुनिक जयसिंहों के लिए स्पष्ट परिलक्षित होता है-

एकिभूत शक्तियों से एक हो परिवार
फैले संवेदना
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाए,
देखो परिणाम फिर
स्थिर न रहेंगे पैर,
पस्त हौंसला होगा,
ध्वस्त होगा साम्राज्य।

विवेकानन्द की हिन्दू पुनरुत्थान की भावना भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में है, - जिसका निराला ने यहाँ स्पष्ट प्रतिनिधित्व किया है। विवेकानन्द के ही 'ऊठो जागो और ध्येय प्राप्ति तक लगे रहो' की भावना का प्रतिबिम्ब निराला की 'जागो फिर एक बार' कविता है। प्रस्तुत उद्बोधनात्मक कविता में निराला ने सांस्कृतिक परम्परा की दुहाई देकर आत्म गौरव और उद्बोधन का भाव जगाया है। एक अकालिया सवा लाख के बराबर होता है। सिक्खों के शौर्य का कीर्तिगान कवि मुक्त कण्ठ से गाता है-

शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
'जागो फिर एक बार'।

'जागो फिर एक बार' का क्रांति मूलक आह्वान करनेवाला कवि भारतीयों की महानता में दृढ़ विश्वास रखता है।

मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन बंध छंद ज्यों।
तुम हो महान,
तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव।

निराला की ख्यातनाम कविता 'भारती, जय, विजय करे।' तथा 'वर दे ! वीणावादिनी, वर दे!' भारतीय अस्मिता को ही उजागर करती है। 'रामकृष्ण विवेकानन्द के कारण उन पर शाक्तोपासना का भी प्रभाव था। 'आवाहन' कविता में उन्होंने कहा-

सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर,
चाहिए कितने तुझको हार ?
कर मेखला-मुंड-मालाओं से,
बन मन अभिरामा-

एक बार बस और नाच तू श्यामा।

इन कविताओं का प्रेरणास्रोत भी विवेकानन्द की पौरुष प्रधान वाणी ही है। उनकी अंग्रेजी कविता 'टू दि एवेकेंड इंडिया' से जिसमें उन्होंने कहा था - 'वन्स मोर एवेक!' वस्तुतः विवेकानन्द की भाँति निराला में भी भारतीय मूल्य चेतना निरन्तर जाग्रत रहती है। उन्होंने वीरता को सदा एक नैतिक आधार प्रदान किया है।

विवेकानन्द की आध्यात्मिक साधना और निराला की काव्य साधना ने राष्ट्रीयता को उत्तेजित करते हुए नयी पीढ़ी के लोगों में भारत के प्रति भक्ति जगायी। उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। विवेकानन्द के उद्गारों से लोगों में आत्म निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। निराला ने भी अपने सम-सामयिक भारत को उन्हीं उद्गारों से उद्बोधित किया। निराला बहुमुखी विशाल साहित्य के प्रणेता थे। दार्शनिकता के पुट ने उनकी काव्य साधना को अधिक गहन-गम्भीर बना दिया है। अद्वैतवाद ने निराला चिंतन का मार्ग-प्रशस्त किया। वेदान्ती अद्वैतवाद ही निराला के जीवन एवं 'तुलसीदास' काव्य का एक मात्र दर्शन है। निरालाजी की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर श्री धनंजय वर्मा ने लिखा है कि - 'रामकृष्ण परमहंस भाव-साधना और विवेकानन्द का वेदान्ती अद्वैतवाद दोनों मानों मिलकर निराला में एकाकार हो गये हैं।' कवि -कुल-गुरु वसन्त के अग्रदूत को कोटि-कोटि वंदन-

अभी न होगा मेरा अन्त
अभी अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त -
अभी न होगा मेरा अन्त।

संपर्क : 136, मयूर रेजीडेंसी, फरीदीनगर, लखनऊ, पिन : 226015, मो. 0941504584

शिक्षा में आनन्द : सनातन परिप्रेक्ष्य

-डॉ. रवीन्द्र कुमार

शिक्षा में आनन्द की अवधारणा के मूल में स्थापित आह्वान, वास्तव में, जीवन में आनन्द का मार्ग प्रशस्त करता है। दूसरे शब्दों में, प्रसन्नतापूर्वक रहना सिखाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रसन्नता के दो और भी समीप एवं, न्यूनाधिक, समानार्थी शब्द हैं: हर्ष और संतुष्टि।

शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लक्ष्य, अर्थात् ऐसे आनन्द अथवा प्रसन्नता को प्राप्त करना है, जो आत्मिक सन्तुष्टि के अनुकूल हो; शिक्षा में आनन्द का यही सार हो सकता है। यद्यपि इसके मूल में जो भावना है, उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में जीवन को सार्थक बनाने वाली भावना के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए, इस विषय का गहन और व्यावहारिक विश्लेषण आवश्यक है। आइए, आनन्द से प्रारम्भ कर इस पर चर्चा करें, क्योंकि यह विषय के केन्द्र में है और, साथ ही, हमारे जीवन कर्मों का वास्तविक लक्ष्य भी है!

आनन्द-हर्ष की हिन्दुस्तानी अवधारणा, भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता से सम्बद्ध एक अद्भुत विचार पर आधारित है, जिसके केन्द्र में सार्वभौमिक एकता है। इसकी अनुभूति और विकास में ऋषियों एवं महर्षियों ने न केवल महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया, अपितु उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इससे सम्बन्धित विभिन्न खोजों और प्रयोगों के लिए समर्पित कर दिया। परमानन्द-मोक्ष, मुक्ति, परिनिर्वाण, निर्वाण या विमुक्ति की स्थिति तक पहुँचने के उपरान्त ही आनन्द की अवधारणा वास्तविकता में रूपान्तरित होती है। यह आनन्द के सागर ब्रह्म के साथ एकाकार होने की स्थिति है:

“रसो वै सः। रसं दृष्ट्वायं लब्ध्वानन्दी भवति।” (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2: 7: 2)

इस प्रकार, आनन्द-सम्बन्धी भारतीय अवधारणा एपिक्यूरस (जीवनकाल: 342/1-270 ईसा पूर्व) और सिसरो (जीवनकाल: 106-43 ईसा पूर्व) जैसे उन पश्चिमी चिन्तकों के विचारों की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है, जिन्होंने दुख-मुक्त स्थिति को सुख की सर्वोत्तम अवस्था के रूप में स्वीकार किया है और कायिक-मानसिक शान्ति को आनन्द का लक्षण बताया है। आनन्द-सम्बन्धी भारतीय अवधारणा ऐसे चिन्तकों की उस राय से भी भिन्न है, जिसमें उन्होंने कायिक-मानसिक सुख को ही आनन्द माना है।

आनन्द-सम्बन्धी भारतीय अवधारणा उन मनोवैज्ञानिकों के विचारों से भी कहीं अधिक महान है, जो यह मानते हैं कि आनन्द भौतिक इच्छाओं की पूर्ति में है, साथ

ही उन लोगों के दृष्टिकोण से भी, जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' जैसे उपयोगितावाद द्वारा स्थापित दृष्टिकोण में विश्वास करते हैं।

एक बात, जो मनोवैज्ञानिकों और उपयोगितावादी चिन्तकों के विचारों सहित प्रसन्नता-सम्बन्धी लगभग सभी उपर्युक्त अवधारणाओं के अवलोकन से प्रमुख रूप से उभरती है, वह यह कि आनन्द कायिक संतुष्टि की तुलना में व्यक्ति की मनःस्थिति से अधिक जुड़ा होता है। यह अवलोकन सामान्यतः एक सीमा तक प्रसन्नता-सम्बन्धी इन सभी विचारों में पाया जाता है और, इस प्रकार, इन सभी को आनन्द-सम्बन्धी व्यापक भारतीय परिप्रेक्ष्य के निकट लाता है।

आनन्द का भारतीय परिप्रेक्ष्य मानसिक सन्तुष्टि, हर्ष अथवा प्रसन्नता को आत्मा से जोड़ते हुए एक अनूठी अवधारणा के रूप में उभरता है। इसके साथ ही, यह इस शब्द के मूल में निहित भाव को भी सुन्दरता के साथ उजागर करता है। भारतीय दृष्टिकोण में आनन्द कोई क्षणिक अवस्था नहीं है। यह अल्पकालिक प्रसन्नता या संतुष्टि, अथवा किसी छोटी उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है।

आनन्द, मन की संतुलित अवस्था में निरन्तर बना रहता है। मानव का रचनात्मक दृष्टिकोण रखने, ऐसा स्वभाव विकसित करने एवं गतिशीलता का इसका आह्वान है। यह अन्ततः व्यक्ति के आत्म-बोध और आध्यात्मिक जागृति में है। यह जीवन को सार्थक और अर्थ पूर्ण बनाने का मार्ग या माध्यम है। यह परमानन्द के स्तर तक जाता है; अर्थात्, चरम अवस्था तक और उस स्थिति में पहुँचने के उपरान्त ही आनन्द अथवा हर्ष व्यक्ति के लिए वास्तविक होता है।

मानसिक स्तर पर आनन्द अथवा हर्ष की अनुभूति और उसके विकास के लिए शिक्षा की भूमिका

अतिमहत्त्वपूर्ण होती है। इसे हम संक्षेप में शिक्षा के अर्थ और उद्देश्य से परिचित होने पर भली-भाँति समझ सकते हैं।

शिक्षा क्या है? क्या किसी पाठशाला, विद्यालय या विश्वविद्यालय में निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार जो अध्ययन किया जाता है और जिसका अन्त केवल एक प्रमाणपत्र या उपाधि प्राप्त करने में होता है, वही शिक्षा है? नहीं, यह शिक्षा-प्रक्रिया का एक भाग या पक्ष मात्र है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा, अपने शाब्दिक अर्थ और मूल भावना के अनुसार, पहले से ही भीतर विद्यमान को बाहर लाने की प्रक्रिया है। अर्थात्, विद्यमान गुणों की अनुभूति और विकास तथा उनके आधार पर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया शिक्षा है। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान और विवेक के माध्यम से अज्ञानता, कठिनाई और नकारात्मकता के अंधेरे को दूर करना है। यह मानव का 'होने' से 'बनने' तक निरन्तर मार्ग प्रशस्त करती है।

महान भारतीय परम्परा में शिक्षा, छह वेदांगों—वेद (एक ही सर्वशक्तिमान व सार्वभौमिक एकता के निर्माता परमानन्द के सत्यमय प्रतीक ब्रह्म को समर्पित आधारभूत धर्मग्रन्थ) अंग ("अङ्गयन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि", अर्थात्, वेद-सूचना एवं स्वरूप पहचानने में सहायक; इस प्रकार वेदाङ्ग) में से प्रथम है और स्वर-विज्ञान या ध्वनि-विज्ञान से सम्बद्ध है। यह ध्वनि उत्पन्न कर हमें ईश्वर से जोड़ता है; इस प्रकार, परमानन्द स्थिति का मार्ग प्रशस्त करता है।

शिक्षा की सभी भारतीय अवधारणाएँ, जो अपनी श्रेष्ठता के लिए जानी जाती हैं, विशेष रूप से इस सम्बन्ध में उपनिषदों में प्रकट विचार, या तीर्थंकर महावीर (जीवनकाल 599-527 ईसा पूर्व), शाक्यमुनि गौतम, आदि शंकराचार्य, श्री अरविन्द, स्वामी दयानन्द 'सरस्वती', स्वामी विवेकानन्द या महात्मा

गाँधी, जो सभी अपने-अपने काल में सनातन परम्परा (मूल भारतीय विचार) के अतुलनीय प्रतिनिधि थे, के मत, यहाँ तक कि सुकरात (जीवनकाल: 470-399 ईसा पूर्व) जैसे पश्चिम के प्रख्यात विचारक की धारणा, अथवा प्लेटो के दृष्टिकोण ने भी भीतर विद्यमान (गुणों) को बाहर लाने की प्रक्रिया को ही वास्तविक शिक्षा स्वीकार किया है। साथ ही, शिक्षा के माध्यम से सदगुणों के समुचित विकास द्वारा जीवन को हर प्रकार से सार्थक और समृद्ध बनाने की बात की है।

शिक्षा से सम्बन्धित एक प्राचीन भारतीय उद्घोष में, इसलिए, यह ठीक ही कहा गया है कि शिक्षा वह है, जो जीवन को उद्देश्यपूर्ण बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है; अर्थात्, जीवन को मोक्ष या मुक्ति के द्वार तक ले जाती है, “सा विद्या या विमुक्तये।”

मानव, वह महिला हो या पुरुष, समान रूप से विचारों, वाणी और कार्यों में रचनात्मक अथवा व्यापक दृष्टिकोण के साथ एवं मानसिक सन्तुलन बनाए रखते हुए गुणों के आधार पर अपनी जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता है; वह अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता है, तो, वास्तव में वह परमानन्द की स्थिति है। यही वह मूल भावना है, जो उपर्युक्त सिद्धान्त के केन्द्र में है। यह नैतिकता की सर्वोच्च अवस्था है, धर्म-मार्ग को प्रशस्त करने वाली कर्तव्यबद्ध नैतिकता और सदाचार की कसौटी है।

शिक्षा, जीवन में प्रसन्नता की द्योतक है। यह व्यक्ति में दृष्टिकोण-संतुलन, सामंजस्य और वैचारिक व्यापकता लाती है। यह गुणों के बल पर व्यवहारों में एकरूपता स्थापित करने के लिए है। इस वास्तविकता को, अर्थात्, शिक्षा अन्ततः आनन्द के लिए ही है, मूर्त रूप देने के लिए, प्राथमिक से लेकर

उच्च स्तर तक, सभी शैक्षणिक संस्थानों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

प्रत्येक शैक्षणिक संस्थान का उद्देश्य छात्रों को भावी जीवन में सफल होने के लिए तैयार करना और न केवल अपने लिए ही, अपितु सजातियों के जीवन को भी उद्देश्यपूर्ण बनाने हेतु योगदान के लिए उन्हें आत्मनिर्भर बनाना है।

ऐसा करके ही वे अपनी स्थापना के सत्यमय उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं। यह लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है, जब शिक्षण संस्थान इस दिशा में कार्य करेंगे। संस्थान, इसे अपने प्रमुख उत्तरदायित्व के रूप में लेते हुए, छात्रों के जीवन को सार्थक व आनन्दमय बनाने के साथ ही प्रदत्त ज्ञान द्वारा हर्षित जन से भरपूर समाज के निर्माण हेतु अपनी भूमिका का निर्वहन करेंगे।

इस सम्बन्ध में शिक्षा-प्रक्रिया के साथ उच्च मानवीय मूल्यों का जुड़ाव आवश्यक है। शिक्षा के सभी स्तरों पर, प्राथमिक से लेकर उच्च तक, मूल्यों का ज्ञान प्रदान करना और अध्ययन-अवधि में ही परस्पर व्यवहारों में उनका अधिकतम अंगीकरण वांछनीय है, क्योंकि आनन्द का मार्ग निरन्तर और गतिशील होता है।

इस सम्बन्ध में शिक्षा को आनन्द का, जो इसकी मूल भावना और उद्देश्य है, मार्ग बनाने के लिए ठोस प्रयास अपेक्षित हैं। आइए, हम यह स्वीकार करें कि शिक्षा अपने आप में आनन्द और साध्य-प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है; शताब्दियों पूर्व महान भारतीयों, ऋषियों और महर्षियों ने इस वास्तविकता को मानवता के समक्ष रखा था।

परिचय : *पद्मश्री और सरदार पटेल राष्ट्रीय सम्मान सेअलंकृत इण्डोलॉजिस्ट डॉ० रवीन्द्र कुमार चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के पूर्व कुलपति हैं; वर्तमान में स्वामी विवेकानन्द सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ (उत्तर प्रदेश) के लोकपाल भी हैं।

संपर्क : 23 बी, लेन-2, मानसरोवर, सिविल लाइन्स, मेरठ-250001 उ.प्र. मो. 9319090160

सृजनात्मक साहित्य की आनुवंशिकी:
सन्दर्भ चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ भाषा एवं शिल्प

-धनेश दत्त पाण्डेय

भाषा को परिभाषित करने के क्रम में फर्दिनेंड द सोस्योर (स्विस भाषाविज्ञानी) का मानना है कि भाषा अविकल चिह्नों का एक ऐसा सम्पुंजन है जिसमें चिह्न, यानी शब्द अपने को एक विशिष्ट स्थान पर व्यवस्थित करके अर्थ ग्रहण करते हैं और इस हेतु वे एक दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। स्वतंत्र होकर वे शब्द अर्थहीन हो जाते हैं। यानी, परस्पर विरोधी शब्दों के सह-अस्तित्व से जो अभिव्यक्ति बनती है, वह भाषा हो जाती है।

परन्तु, दार्शनिक और आलोचक जॉक देरिदा का स्पष्ट मानना है कि 'भाषा' के चिह्नों के अंतर से न तो कोई अर्थ पैदा होता है और नहीं ही इनसे हम ऐसा कोई अर्थ ग्रहण कर पाते हैं।

तो फिर, भाषा, खासकर सृजनात्मक साहित्य में प्रयुक्त भाषा, को परिभाषित कैसे करें? अथवा कि, भाषा कौन सी बला है, यह हम सहजता से कैसे समझ लें! इस हेतु हम ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर के पास चलते हैं जिनका मानना है कि 'कला, गणित एवं दर्शनशास्त्र की तरह नहीं है। यह एक अनुभूतिपूरक केन्द्रिक और परम वैयक्तिक प्रक्रिया है। कला के तथ्य और विचार कल्पना के तथा अनुभूति के अनुचर हैं। कलाकार का मुख्य लक्ष्य सत्य होकर आनंददायक है। साहित्य के अध्येता का मूल उद्देश्य ही होता है साहित्य के अनुशीलन से अपने आपको हर्षोल्लासित करना। उनका कर्तव्य स्वयं को आनंदित करना है। उन्हें सारे प्रयासों का लक्ष्य अपने में साहित्यानुशीलन की क्षमता का विकास करना होना चाहिए।

अब हम अपनी चर्चा की परिधि को पा लेने की स्थिति में तो आ गये-सा लगते हैं, परन्तु यहाँ फिर से एक कठिन प्रश्न खड़ा होता है कि भाषा गर व्याख्या से परे, गणित और दर्शनशास्त्र के ऊपर उठकर धारित अनुभूति का पूर्ण पुनर्प्रस्तुतिकरण है, तो फिर इसके लिए शब्दों के होने या न होने अथवा उनके निर्माण और अपनी निर्मिति के लिए इनके इस्तेमाल का महत्व क्या है?

महत्व है। महत्व को समझ लेने के लिए यह जान लेना ज़रूरी है कि हिंदी में जिसे हम 'शब्द' कहते हैं, वह अपने प्रयोग में द्विअर्थी है। इसका एक अर्थ 'शब्द' हैं और दूसरा 'ध्वनि'। वाचिक भाषा में शब्दों की भाषा नहीं होती, सिर्फ ध्वनियाँ होती हैं। लेकिन साहित्य का निर्माण हमारे सम्प्रेषण की तरलता से होती है और उस तरलता के निर्विरोध बहाव के लिए 'शब्द और ध्वनि' दोनों के निर्मित चिह्न हैं या कि निर्मित कर लेना होता है। यथा, पशुओं की आवाज़ सम्प्रेषित करने के लिए प्रयुक्त शब्द-चिह्न, शांति, व्याकुलता आदि की अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले चिह्न। यह एक ऐसा तत्व है जो समस्त कलाओं के लिए समान महत्व रखता है।

संगीत में इस प्रयोग से लयात्मकता प्राप्त होती है और कथासाहित्य में संगीतात्मकता, जहाँ लेखक अपने अर्जित अनुभूति को शब्द-बद्ध करता है और उसे मानव मात्र के बीच संचरित होने के लिए छोड़ देता है।

एक कथाकार की रचनाओं में उसकी भाषाई विलक्षणता को देखने-परखने के अपने इस सामान्य प्रयोजन में हमें भाषा के शास्त्रीय-पक्ष अथवा उसके व्याकरण में उतरने की जरूरत बिलकुल नहीं होती, यदि हमारे परीक्षण के केंद्र में बैठा कथाकार ग्रामीण-परिवेश अथवा कि रेणु के शब्द में 'आँचलिकता' का पक्षधर नहीं होता और इस पक्षधरता पर एक विशेष आरोप नहीं मढ़ दिया गया होता! 'फैलते क्षेत्रों के इस व्यापक विकेंद्रीकरण (ग्रामीण क्षेत्र और परिवेश) ने जहाँ कहानियों में अनंत विविधताएं, आँचलिक रंगत और जीवन-संघर्ष के बेहद महत्वपूर्ण पक्ष दिए हैं वहीं हिंदी पाठकों के सामने - संप्रेषण का एक और संकट खड़ा कर दिया है। अनेक पाठकों ने बार-बार सवाल उठाये हैं कि हिंदी पाठक से आप कितनी बोलियाँ समझने की उम्मीद करते हैं? कोई लेखक ईमानदारी और प्रामाणिकता से राजस्थानी जिन्दगी, भाषा और मुहावरे दे रहा है तो कोई सुदूर पहाड़ी क्षेत्रों की, कोई छत्तीसगढ़ी, ब्रज या हरियाणवी की...बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश का वर्चस्व तो है ही...उधर महानगरीय मध्यवर्ग तो पूरे के पूरे संवाद अंग्रेजी में झाड़ देता है-इस सिरे से उस सिरे तक छापी हुई यह भाषाई विविधता रोमांचकारी ज़रूर है, लेकिन पाठकीय बोध के लिए सबसे बड़ा संकट भी है। जब तक कहानी विषय या परिवेश के नयेपन और जानकारीयों तक ही पाठक को सीमित रखती है तब तक अनुभव की गहराई में उसे छू नहीं पाती...कहानी की सफलता ही इस बात में है कि इन बाहरी उपकरणों को पार करता हुआ पाठक कथ्य की अंतरंगता से जुड़ता चला जाए। इसके बिना कहानी का अनुभव, पाठक का अपना अनुभव नहीं बनेगा-हाँ, उसकी जानकारी में इजाफा जरूर करेगा। जहां तक जानकारीयों का सवाल है तो उसके लिए

अखबार से लेकर दूर-संचार तक बीसियों और तरीके हैं-कहानी से ज्यादा प्रमाणिक..." (राजेन्द्र यादव; 'हंस': सम्पादकीय मई 1988)

सही है कि भाषा व्यक्तियों के बीच आपसी भाव के सम्प्रेषण का साधन है परन्तु सृजन के क्षेत्र में उतरते ही यह साधन मात्र नहीं रह जाती, बल्कि साध्य हो जाती है जिसे कोई भी सर्जक अपनी दिल और दिमाग के बूते साधता है। शब्द जो किसी भी भाषा के निर्माण में दायी है, अपने मौलिक चिह्नों या ध्वनियों में ही सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं, चाहे शिक्षण संस्थान हो, बाजार हों, राजनीति के अखाड़े हों या दैनंदिन क्रिया कलाप के कोई अन्य क्षेत्र हों। लेकिन, उनका यह मौलिक भावरूप तब उतना ही मौलिक नहीं रह जाता जब एक साहित्यकार उनसे अपनी साहित्य-साधना करता है अथवा कोई संगीतकार संगीत-साधना। तब यह मौलिकता सिर्फ चिह्नों तक सीमित नहीं रह जाती है, कहानी या कविता बनते ही इन शब्दों का आत्मीय स्वरूप पूरी तरह बदल जाता है। तब ये शब्द अपने साधक के चित्त का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और इस कारण ही ये अपने साधक विशेष की पहिचान बन जाते हैं। अपने गठन, प्रभाव, प्रयोग और चलन में वे अपने सर्जक की संज्ञा से अभिहित होते हैं, जैसे निराला की भाषा, पन्त की भाषा, प्रेमचंद की भाषा, रेणु की भाषा या चंद्रकिशोर जायसवाल की भाषा! यहाँ आकर भाषा वैयक्तिक हो उठती है और लेखक के सामाजिक परिवेश, परिस्थितियों से अपना दाना-पानी ग्रहण करके अपनी मांस-मज्जा बनाने लगती है। यही भाषा का मानवीकरण है जिस कारण ही साहित्य के लिए क्षेत्रीयता उसकी विशिष्टता तो होती है, उसका दोष नहीं, जैसा कि ऊपर के उद्धरण में आरोपित है।

इस गुण के कारण ही हर रचनाकार का कोई न कोई अपना रचना संसार भी होता ही है। डिकेंस का यह संसार लन्दन है और बंकिम के लिए उसका बंगाल। प्रेमचंद अपनी रचना की टोह में सम्पूर्ण भारत घूम आते हैं तो शैलेश कुमाज़-अंचल के बटोही हैं। यहाँ तक कि ज्ञानरंजन और रवीन्द्र कालिया, जो

कहीं से भी आंचलिकता का तमगा धारण करना नहीं पसंद करते, किसी न किसी क्षेत्र-विशेष को ही अपना रचना-संसार बनाते हैं। ऐसे में रेणु अथवा जायसवाल को अंचल-विशेष, या ग्रामीण-परिवेश में बांधकर उनकी रचनाओं पर 'संप्रेषण का खतरा और संकट' खड़ा करना एक प्रायोजित षड्यंत्र तो हो सकता है, निरपेक्ष मूल्यांकन नहीं। यह लेख इस निरपेक्षता के साथ ही जायसवाल की रचना-भाषा और शिल्प पर एक सार्थक विमर्श के लिए उनके पाठकों के सामने एक भूमिका तैयार करना चाहता है।

लेखक अपनी अर्जित अनुभूति को शब्द-बद्ध करता है और उसे मानव मात्र के बीच संचरित होने के लिए छोड़ देता है। परन्तु, किसी अनुभूति को शब्द-बद्ध कर देने भर से ही वह साहित्य नहीं बन जाता। श्रीपतराय जी के शब्दों में, 'साहित्य वह तब होगा जब वह रस, माधुर्य, अर्थवत्ता, संगीत (और वे अनेक तत्व जो परंपरा ने जोड़ दिए हैं) आदि विशेषणों से विभूषित होगा' यहाँ आकर फिर से अनुभूति की ही प्रधानता आ जाती है जिसके लिए मिर्जा बेदिल कहते हैं,

‘दमाग-ए-नज्मी नदारम अक्नुं
कि रेज़म अजनोक -ए-खाम: बेरुं
ज़ि नब्ज़-ए दिल जस्त-मिसरअ-ए-खुं
बनेश-ए- फ़साद में निगारम।’ (मेरे पास कवि का मस्तिष्क नहीं जिसे मैं कलम की नोक से कुरेद कर बाहर गिरा दूँ। मेरे दिल से खून की कविता पंक्ति फूट पड़ती है जिसका श्रृंगार एक शल्य चिकित्सक की छूरी से करता हूँ)।

तब क्या यह माना जाय कि रचनात्मक साहित्य में भाषा वह चीज़ है जो रचनाकार के दिल से लहू बनकर टपकती है और कलम की नोक पर चढ़कर कागज़ की धरती पर उतरती है। बेशक! ताल्सताय भी कहते हैं, 'हमें उसी समय लिखना चाहिए जब प्रत्येक बार हम कलम डुबायें तो अपने मांस का कुछ भाग दावात में छोड़ दें।'।

आशय यह कि कथा साहित्य में प्रत्येक कथाकार अपने परिवेश के दैनंदिन व्यापार से विश्वास, आकांक्षा,

यथार्थ, और वंचना आदि को अपने मनोमस्तिष्क द्वारा अर्जित करता है जो एक विशिष्ट अनुभूति यथा कष्ट, घृणा, प्रेम, द्वेष, क्षोभ, विद्रोह आदि के तौर पर उसके हृदय को मथता रहता है और जिससे हल्का होने के लिए वह इसे उसी समाज से खोज-बीन, चुन-चान कर जुटाए गए शब्दों से कागज़ पर इसका पुनर्प्रकटीकरण करता है। पुनर्प्रकटीकरण के इस साधन को ही हम उस रचनाकार की भाषा कहते हैं जिसे वह रस, माधुर्य, रागात्मकता, अर्थवत्ता और अन्य विशेषणों से विभूषित करके साहित्य बना देता है। इन विशेषणों को टाँकने-जोड़ने की क्रिया शैली कहलाती है, जो कि भाषा की तरह ही हरेक लेखक के लिए वैयक्तिक प्रविधि होती है और ये दोनों ही तत्व सहजीवन पाकर भाषा-शैली कहे जाते हैं।... अब हम अपने अभीष्ट, जो कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल की भाषा-शैली है, की विवेचना का प्रयास करते हैं।

कहा जाता है कि प्रेमचंद के बाद जिन लेखकों ने हिंदी कथा-साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वे हैं-अज्ञेय, निर्मल और रेणु। ये तीनों ही लोक-जीवन, समवेदना, भाषा और शिल्प के क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रयोगों को लेकर आये। लेकिन, रामविलास शर्मा की नजरों से देखें, और कि जो देखना अन्यथा भी नहीं है, तो प्रेमचंद और रेणु की अपनी-अपनी खासियत यह रही कि, प्रेमचंद के कथा-विस्तार में पूरा हिन्दुस्तान, खासकर उत्तरी भारत का क्षेत्र है जबकि रेणु, अपने जिस लेखन के लिए अपनी अलग पहिचान बनाते हैं, उसमें यह क्षेत्र काफी संकीर्ण होकर सिर्फ उत्तरी बिहार की क्षेत्रीयता तक में ही निपट जाता है। दोनों के रचना-चिंतन में भारत का ग्रामीण परिवेश ही केन्द्रस्थ है, परन्तु, स्थानीयता की इस संकीर्णता के कारण ही लोगों का मानना हुआ कि प्रेमचंद अखिल भारतीयता के पैरोकार हैं, जबकि रेणु एक अंचल विशेष से ऊपर उठ ही नहीं पाए। बात दिगर है कि स्थानीयता कभी भी लेखन की संकीर्णता हो ही नहीं सकती। यदि होती तो शैलेश मटियानी, शिव प्रसाद सिंह, राजेन्द्र अवस्थी,

मार्कण्डेय इत्यादि भी दायरा की संकीर्णता का यही दोष झेल रहे होते! या, अमरकांत, कमलेश्वर, शानी से लेकर उपेन्द्रनाथ अशक, जैनेन्द्र या अज्ञेय जैसों को भी इसका अपवाद क्यों मान लिया जाय जबकि ये तमाम ख्यात रचनाकार भी किसी न किसी क्षेत्र विशेष की चेतना से आबद्ध होकर ही लिखते रहे हैं? रामविलास शर्मा ने तो 'आंचलिकता का अटपटापन' कहकर रेणु की सबसे विशिष्ट कृति 'मैलाआँचल' को भी उसके प्राप्य उत्कर्ष के लिए बाड़ खड़ी कर देने का प्रयास किया था...यह जानते हुए भी कि 'मैलाआँचल' हो, 'परती परिकथा' हो अथवा कि रेणु की अधिकांश कहानियाँ हों, इन सबों में लोक-संस्कृति, लोक-चेतना और लौकिक यथार्थवाद को लेकर जितने अभिनव प्रयोग हुए हैं, सब के सब इसके पूर्व हिंदी कथा साहित्य में दूर-दूर तक नहीं मिलते, प्रेमचंद की कथाओं में भी! सच मानिए तो भाषा को लेकर किया गया यह सबसे बड़ा प्रयोग था जिससे लोक-भाषाओं की पहिचान पहली दफ़ा पाठकों के सामने आयी और विद्वानों ने तब, क्षुब्ध होकर ही सही, इस पृथक पहचान को अलग से देखने-पुकारने-कहने-बताने और बतियाने के लिए इसे 'आंचलिकता' का नाम दिया! परन्तु तब के आभिजात्य भाषा-भाषी लेखक और आलोचकों ने गाँव की भाषा में; गाँव की संस्कृति को; गंवारों की अभिव्यक्ति से; गाँव के चटख रंग लेकर; गाँव की भित्ति पर उकेर देने के इस प्रयास को 'गँवार', 'अंतर्मुखी', 'गृहासक्त', 'कूपमंडूक' जैसे विशेषणों से नवाज़ा!

हम यह नहीं कह सकते कि हिंदी साहित्य के कुछ दिग्गज जान-बूझ कर भी रेणु को गालियाँ ही दे रहे थे। उनके आरोपों को सिर से खारिज़ कर दिया जाना भी सही नहीं होगा। रेणु के लेखन में स्थानीयता, लेखकीय निजता, यथार्थ-चित्रण, प्रकृति से निकटता, लोक-संस्कृति की स्पष्टता, लोक आचार-विचार की विविधता, कथा-रसिकता, गेयता, सब गुण थे। साथ ही, एक छोटा सा अवगुण भी था-भाषा के परिमार्जन को लेकर। यहाँ रेणु से थोड़ी चूक ज़रूर हुई जिस कारण ही वे कुछेक निंदकों की निंदा का दंश झेलते

रहे। यह सही है कि सिर्फ और सिर्फ प्रयुक्त अनगढ़ देसज शब्दों के कारण ही 'मैलाआँचल' हिंदी पट्टी के पाठकों के लिए आज भी सहजता में पठनीय नहीं हो सका है, खासकर शहरी युवकों या जिन्होंने जन्म से ही गांवों से नाता तोड़ लिया है, के लिए। गाँव, जो अपढ़ होकर भी, निरक्षर भट्टाचार्यों की ज़मात का बोझ उठाते हुए भी, कम से कम सौ-दो सौ वर्षों तक कथा-कहानियों से मोह पाले हुए था, प्रेमचंद के बाद हठात हिंदी कथा साहित्य से कन्नौ काटने लगा। प्रेमचंद के पूर्व तक हमारे गाँव 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी'; सुखसागर', 'इंदुमती', 'चंद्रकांता सन्तति,' सोरठी बृजभान', जैसे कथा-आख्यानों से अंटे पड़े थे। चौपालों की संध्या और औरतों की जंघा-जोड़ गोष्ठियों में वे कहानियाँ मनोरंजन और अवसाद-थकान से उबरने का सबसे बड़ा टोटका थीं। किताबों से घर के 'ताखे' और 'धरखे' भरे रहते थे। लेकिन साहित्य की उन्नति के दाबे जैसे-जैसे बढ़ते गए, गाँव से साहित्य की किताबें उड़न-छू होती गयीं। प्रवाद और प्रयोगों ने तो रही सही कसर भी पूरी कर दी! साहित्य के पाठक गाँवों में तो नामुराद हुए ही, शहरों में भी इनका पठन-पाठन आभिजात्य होने की विशिष्टता तक सिमटने लगा। ऐसे में रेणु का आना निश्चित तौर पर एक बार फिर से हिन्दी-पाठकों के लिए सुखद साबित हुआ, क्योंकि, रेणु के बाद ऐसे कथा लेखकों की कतारें सजने लगीं जो गाँव के बाहर किसी शहर या महानगर में रहकर भी वहाँ के झरोखों से देहात को ही झाँक रहे थे। उनकी रचनाएं जड़ से फुनगी तक सिर्फ और सिर्फ देहात के गोबर-माटी का उपजीव्य होने लगीं। ग्राम्य जनजीवन, ग्रामीण समस्याएं, गाँव के जीने-मरने का ढंग एक बार फिर से उस परिवेश की मात्राओं, ध्वनियों, वर्णों, शब्दों से गढ़ी गयी भाषा में उतरने लगे और हिंदी साहित्य की नसों में लहू बनकर प्रवाह पाने लगे। स्वाभाविक था कि देहात की अनगढ़ता, भोंडापन, बाँकपन और निरालापन उतनी ही सहजता से उनकी रचनाओं में गाँव-जवार के कंठ लेकर उतर आये। जो

शहरी आभिजात्य हिंदी के अभ्यस्त थे उनके लिए ऐसी रचनाएं बेखटके पढ़ लेना निश्चित तौर संभव नहीं था लेकिन, कुछ नए रचनाकारों ने सावधानी बरती और एक बार फिर से साहित्य में सहजता और रस का संचार हुआ। साहित्य के अबूझ प्रयोगों से घबराए हुए पाठकों के लिए यह एक राहत भरी बात थी और इस कारण भी रेणु अंगद के पाँव लेकर धरती पर ऐसा जमें कि उनको पछाड़ना तो दूर, उनसे तिल भर भूमि छुड़ा लेना भी शूर-वीरों के लिए आसान नहीं रहा! इस जबर्दस्त असर के कारण रेणु के परवर्ती ग्राम-कथाकार उनके क्षेत्र में जमकर फलने-फूलने लगे, लेखकों की एक बड़ी जमात उग आयी, कुछ ठहरे; कुछ जमने के पहले ही उखड़ गए। जो जमें, उनमें शालिग्राम, चंद्रकिशोर जायसवाल, चंद्रमोहन प्रधान, रामधारी सिंह दिवाकर जैसी संज्ञाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें यह देखना कि कौन रेणु की 'कॉपी' हो कर उनके परंपरावाही बनें और किन्होंने रेणु के कथा-तत्वों को पुष्ट और परिमार्जित करते हुए अपनी विलग पहिचान बनाई, एक अलग से बड़े विमर्श का विषय है।

यह विमर्श चूँकि चंद्रकिशोर जायसवाल की रचनाओं में 'भाषा और शिल्प' को परखने का एक प्रयास के लिए प्रतिबद्ध है, इसलिए इसकी यह संकीर्णता ही इसकी सीमा भी होगी।

कहानी की भाषा को लेकर जायसवाल जी की स्पष्ट राय है कि कथाकार का दायित्व है कि वह इस मामले में अपने पात्रों को बेलगाम नहीं होने दे। कहानी विशिष्ट हो सके, सिर्फ इसलिए उसे अपने पात्रों के मुँह से किसी दार्शनिक या विज्ञानी की भाषा भी नहीं उगलवानी चाहिए। जीवन यापन एक सहज और निहायत वैयक्तिक प्रक्रिया है। हर कोई अपनी सोच, अपनी रुचि, अपनी मान्यता की सहजता में जीता है, वास्तविक जीवन का पात्र भी और कहानी का पात्र भी। इस कारण ही हर किसी की अपनी एक सहज-सरल भाषा होती है। बारीक से बारीक विवरणों एवं चाक्षुष बिम्बों को उसकी ही सहजता-सरलता में उत्कीर्ण करना कथाकार की सफलता होती है। वाग्जाल

फँसा देने से रचनाएं विभूषित नहीं हो जाती। बल्कि, यह नाटक के कलाकारों की बनावटी श्रृंगार पाकर भौंडी हो जाती है। भाषा संबंधी इस नियमन को समझने के लिए हम निकोलाई गोगोल के एक चरित्र को यहाँ उद्धृत करना चाहेंगे। उनकी एक प्रसिद्ध कहानी है- 'तस्वीर'। इसका नायक एक चित्रकार है। नाम है-चर्तकोब। चर्तकोब जब सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने लग जाता है, उसकी सोच बदल जाती है। वह मानने लग जाता है कि 'कलाकार को सभी समाज का अंग होना चाहिए, उसे अपनी ख्याति बनाए रखना चाहिए, कि साधारण कलाकार तो मोचियों जैसे कपड़े पहनते हैं, वे शिष्ट आचरण नहीं जानते, वे सलीके से रखना-ढंकना नहीं जानते।' ऐसा सोचते ही चर्तकोब में आभिजात्य झलकने लगा और वह अपने ही अतीत को भूलने लगा। उसका जीवन उस अवस्था में पहुँच गया था जब हर स्वतः स्फूर्त चीज आदमी के अंदर सिमट कर रह जाती है, जब भावात्मक आवेग आत्मा तक अधिक क्षीण रूप में पहुँचते हैं और वे हृदय के स्पन्दन से विलग होकर रह जाते हैं।

'गंवार' रेणु और आभिजात्य शहरी लेखकों में यही अंतर रहा। और, कथा लेखन के जिन गुणों को रेणु ने अपनी मौलिकता में ग्रहण किया, जायसवाल ने भी उस मौलिकता को ही और ज्यादा गहनता में अपनाया। जायसवाल जी देहात के जीवन का चित्रण देहाती आत्मा का साक्षात्कार करके ही करते हैं, ऊपर-ऊपरकी हवा बटोर कर नहीं। उनकी भाषा में देहात की तिक्तता, उसकी मिठास, उसकी भावप्रवणता, रेणु की तरह ही अनारोपित होकर उतरती है। वे अपने पात्र का जीवन कृत्रिम संघर्ष के उपादानों से कभी इतना ऊँचा नहीं उठाते कि जीवन के स्वतःस्फूर्त अवदान जीवन के भीतर ही घुट-घुट कर दम तोड़ दे। गाँव के लोग अपने भाव-विचारों को जिस तरह उपमा-उपमेय की भाषा में सुस्वाद परिपाक बनाकर बोलते-बतियाते होते हैं, जायसवाल भी अपने पात्रों के लिए इस परिपाक को ही अपनी रचना-प्रक्रिया में शब्द-बद्ध कर लेते हैं। उनके इस

गुण की बानगी हम उनकी हर कहानी में आसानी से देख सकते हैं। ‘जंग’ कहानी की चंद पक्तियाँ देखिये... ‘दरोगा धतीगड था, मोटा-ताज़ा, मुस्टंड। उसके दोनों होंठ काफी मोटे थे, ग्रीवा कुछ वक्र थी दायीं ओर झुकी हुई। ध्यान टिक गया भूनों बाबू का दरोगा जी की ऊपर उठी हुई नाक पर। नाक और होंठ के मध्य जो कोण बनता था वह समकोण से अधिक था। गाँव के गिरिधर पंडित ने उनसे कहा था, ‘डाक्टर बाबू, आपने गजानन की नासिका पर कभी गौर किया है? आकृति विज्ञान में ऐसी नासिका को कहा गया है, वृहतकोण नासिका। ऐसी नासिका वाला आदमी बहुत ही दुष्ट, अशिष्ट और निर्लज्ज होता है। ऐसे आदमी से हमेशा बचकर रहना चाहिए।’

पूरी कहानी, बल्कि कहिये कि उनकी लगभग हरेक कहानी ऐसे-ऐसे सम्वादों से गुलज़ार होती है कि पाठक इन्हें पढ़ते हुए गाँव के मूर्त चौपाल पर पहुँच कर अपने ही जीवन के भोगे-खोये लम्हों में रत हो जाता है। संवेदनशीलता हमेशा ही सामाजिक प्रतिफलन को अपना दास बना लेती है। सामाजिक प्रतिफलन से कटकर संवेदनशीलता, संवेदनशीलता नहीं रह सकती।... ‘मर गया दीपनाथ’ उनकी एक काफी लम्बी और चर्चित कहानी है। पच्चास पृष्ठों की इस कहानी में पात्रों के घटित कर्म और इस कर्म की अभिव्यक्ति के लिए एक-एक पात्र के उगल आये शब्द अनुभूति की तरलता से कहानी की निरन्तरता में अप्रत्याशित प्रवाह गढ़ते हैं। ऐसे में सर्जनात्मकता को लेकर मलयज का यह कथन (सुविधा के लिए यहाँ ‘कविता’ को ‘कहानी’ से स्थानापन्न कर दिया गया है) कितना खास है! ‘कहानी वह है जो महसूस किये हुए कर्म को प्रखरता तक ले जाय और जीवन संघर्ष के जुझारूपन से घटित होकर सर्जनात्मकता की एक नई कसौटी सामने ला दे।’ भाषा के भीतर जो अनुभूति होती है, भाषा के बाहर वही कर्म है...कहानी इन दोनों की संधि पर है। कहानी सच्ची बनती है भाषा के बाहर के कर्म से। ‘मर गया दीपनाथ’ की यहाँ उद्धृत चंद पंक्तियाँ ही, जो कि

पूरी कहानी के गठन में अपना सादृश्य बनाए रहती है, उपरोक्त कथन को समझने में सहायक हो जाती है।

‘हे ईश्वर!’ वह मन ही मन बुदबुदाया, ‘अगर मैंने कभी तुम्हें पूजा है (कब नहीं पूजा है, हमेशा नमन किया है, सड़क-बाजार तक मैं दिख गए देवालियों के आगे सिर झुकाया है), अगर मेरी माँ ने तुम्हारी सेवा-पूजा की है (माँ का तो सारा समय ही ब्रत-पूजा में कटता था, कौन ऐसा दिन गुजरा होगा जब माँ ने दुर्गा का जाप नहीं किया होगा!)। अगर यह सच है कि मेरी माँ वैद्यनाथ के पास पाँव पैदल कांवर लेकर गयी थी, और तब मैं पैदा हुआ था (यह सच है और इसकी जानकारी मुझे ननिहाल में बहुत बचपन में ही मिल गयी थी), तो मेरी रक्षा करना’।

आपात काल में फँसा एक बेहाल आदमी का इतने सरल शब्दों में ऐसा तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अद्भुत है! इतनी लम्बी कहानी का पूरा ताना-बाना ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के लिए प्राणवंत देहधारी भाषा के प्रयोग से पूरा किया गया है, जहाँ कहानी का पात्र अपने परिवेश के छुअन, छाजन, पोषण, पीड़न और उत्क्रमण को पूरी स्वभाविकता में भाषा और ध्वनि के रूप, नाद, गंध और अविकलता से पाठकों के सामने प्रकट कर जाता है। भाषा का कहीं भी कोई चमत्कार तो नहीं परन्तु घात की सीत्कार हर जगह पूरी कहानी में!

कविताओं के मानदंडों को आरोपित करके कहानी में भाषा का चमत्कार उत्पन्न कर देने का पक्षधर जायसवाल कभी नहीं रहे। कोई भी सफल कथाकार ऐसी पक्षधरता का कभी कायल नहीं होता। प्रतीक, बिम्ब, लय, रूपक, मिथक, अन्योक्ति आदि का प्रयोग कहानीकार को बहुत सम्भल कर व्यंजन में लवण की मात्रा भर करना चाहिए। टालस्टाय या स्टेण्डाल जैसे उपन्यासकारों की भांति जायसवाल भी दैनिक बोलचाल की भाषा के निकट होते हैं और इस कारण ही वे पूरी स्पष्टता से प्रेषणीय हो जाते हैं। ‘बिशनपुर प्रेतस्य’ में बाढ़ की विभीषिका के कारणों की पहिचान में छल-छद्म के अनावरण के लिए सरल-सटीक शब्दों

के छोटे-छोटे मारक वाक्यों से इस कहानी में उत्पन्न संश्लिष्ट चित्र कहानी कला का उत्कर्ष है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, मानवी-संघर्ष और जीवन की संक्रांति की अति दुर्लभ कलाकृति बन जाती है यह कहानी कुछ पंक्तियाँ फिर से बतौर बानगी :

‘गाछ, सड़क, पुल, टीले, सब बह गए पानी में। भाषण, बयान, प्रतिवेदन, जांच-समिति, निरीक्षण, सर्वेक्षण, घोषणाएं, प्रार्थनाएँ- इन सब को धो-पोंछकर बराबर कर दिया इस पानी ने’ ।...

‘लाल किले से दूर-दराज के गाँवों तक, कोने-कोने तक पहुँचाये गए थे आँकड़े। पानी ही बेशर्म निकला- बेशरम, बेहया! आकड़े बह गए, प्रार्थनाएँ... बेकार गयीं ।...

‘महामान्य को दुःख हुआ।... जल का कुम्भ लगेगा बिशनपुर ग्राम में। दूर-दूर के तपस्वी आ रहे हैं। इलाके के सारे नदी-नाले, सरिता-सरोवर, पोखर-तालाब, कुल्या-दीर्घों का, कुआँ-मटकुआँ, आमंत्रित हैं। ये चल पड़े, चले आ रहे हैं। तुरत खाली करो इन झोपड़ियों को। यहाँ महाकुम्भ लगेगा, संसार का सारा पानी आमंत्रित है।...

‘एक था गाँव बिशनपुर...

‘बिशनपुर कहाँ गया। अमात्य ने चिल्लाकर पूछा।

‘‘पानी में डूब गया सरकार।’’ कुछ सहमी हुई आवाजें आयीं।

‘‘जिसके तीनों कुलों में अभाव हो, पंडित जी बताते हैं, उसके प्रेतकर्म आपको ही करना है।

‘‘महामान्य बिलख कर रो पड़ते हैं। सालोंसाल जमा किये गए आंसुओं को बेरोक बहा देने का यही तो उत्सव है।...

‘‘अज्ञात गोत्रस्य बिशनपुर प्रेतस्य प्रेतत्वविमुक्ति पूर्वकांक्षया।’’

कहानियों में भाषा-सौन्दर्य तो वांछित है ही, परन्तु इस हेतु आवश्यक नहीं कि अनावश्यक शब्द-कोमल या कठोर, खोज-ढूँढ़ कर प्रयोग में लाये जाँय। कहानियों में सौन्दर्य के लिए मुहावरों, कहावतों या छोटे-छोटे किस्सों का प्रयोग होता है जिसे

जायसवाल जी अक्सर ही काफी सचेत होकर करते हैं। वह भी इस कारण कि गाँव-जवार के लोग आज भी कहावतों में ही बातें करते हैं, यही ग्राम्य-भाषा की सुषमा है। परन्तु रेणु से विलग, जायसवाल की कथाओं के शब्द गाँव की खालिस बोलियों से यूँ ही चुनकर नहीं आते, शब्द-कोष की संगति में भी उनका होना जरूरी होता है, जिस कारण हर किसी के लिए इसे पढ़ना और समझना आसान होता है और इसका भाषांतरण भी सहजता से संभव हो जाता है’। जायसवाल निर्व्याज तौर पर कथा-क्षेत्र की बोलियों को संस्कारित करके एक समृद्ध भाषा निर्माण में अपना अतुल्य योगदान देते हैं। साहित्य की भाषा तो वैसे ही भावनात्मक होती है जिसमें जीवन के आवेग मुखर होकर पाठकों के सामने अवतरित होते हैं। ऐसे में सम्प्रेषण की कठिनाइयों को कम करने के लिए ही कथा-साहित्य में ध्वनियों, मुहावरों, क्षेपक प्रसंगों का सहारा लिया जाता है जिसमें जायसवाल जी निष्णात हैं। निष्णात इस कारण कि अपनी रचनाओं में वे इनका प्रयोग छौंक लगाने भर करते हैं ताकि रचना की रसिकता तो बढ़े, उसका स्वाद कसैला न हो जाय।

‘नकबेसर कागा ले भागा’ का भिखारी घेघू (उसके गले में घेघा है, जिसके कारण उसके लिए भीख उगाहना सुलभ है) का अपनी चहेती रनिया (एक बदसूरत कानी भिखारिन) के प्रति दिवानगी का वर्णन (जिसके कारण यह कहानी अपने समय की सबसे लोकप्रिय कहानियों में शुमार हुई) देखिये,

‘मन के घोंसले से उड़ा पंछी मुक्त गगन में उड़ानें भरता हुआ पूरी धरती को नकारने लगता है। धरती के ढेर सारे प्रश्नों को पीछे छोड़ते हुए एक ऐसा ही पंछी उस दिन असीम आकाश में मंडराने लगा था। खुशियाँ भी गरीब होती हैं? मन भी भिखारी होता है?’

एक आवाज न जाने कितनी गहारियों से उभरी थी, बेसूरी, नैसर्गिक मिठास से भरी-पूरी। घेघू गा उठा था,

‘तोरे झांझर घुंघटवा के पार गोरिया
चमके चंदा-सा मुखड़ा तोहार गोरिया।’

अवधेश कुमार का मानना है कि ‘साहित्य शब्द के जड़ हो जाने, मर जाने की जगह है, इसलिए साहित्य में आने से पहले उसे बाहर जीवन में जिम्मेदाराना ढंग से आवारागर्दी कर लेनी चाहिए ताकि न केवल वह अर्थवान हो सके, बल्कि उसके पास अर्थ के ऐसे सामाजिक और सांस्कृतिक आयाम भी हो जो दो भिन्न मानसिकता, स्थान, और समय में रहने वाले आदमियों के बीच अपरिचय को समाप्त कर सके।’ शब्द जो लोकजीवन में लोकोक्ति, लोकगीत, और काव्य-पंक्तियों में समरस होकर वर्षों तक की आवारागर्दी करके अर्थवान हो चुके होते हैं, जायसवाल उनका ही प्रयोग अपनी रचना की गहराइयों के लिए करते हैं, जैसे

‘घोड़ागाड़ी नोनापानी और राड़ का धक्का।

इन सबसे बचा रहे तब केलि करे कलकत्ता।’
(‘रिश्ता’)

‘ककड़ी का अंत हुआ गाड़ मुँह टेढ़ा।’ (पुनरागमन पर्व)

‘सुरे ढोल बहू के बोल।’ (टेढ़ गाछ की छाया)

इसी तरह ‘जिधर जाए खेर रानी उधर जाए आग-पानी’ ‘बिते भर की छोकरी, गज भर की जुबान’, ‘तुम चाटो सिलौट हम चाटें लोढ़ा’। जैसी लोकोक्तियाँ इनकी रचनाओं में यथायोग मिलती रहती हैं जिनका प्रयोग भाषा की अभिव्यंजना का स्वरूप निर्धारित करने में हुआ है। यह भाषा का मानवीकरण तो करता ही है, उसके बोलने-लिखने वाले के बीच के अन्तर्सम्बन्धों की प्रगाढ़ता भी महसूस कराता है। इससे भाषा की गति अवरुद्ध नहीं होती वरन् भाषा-परम्परा का विकास और भाषा-गठन ही होता है जिससे साहित्य की वाग्धारा मजबूत होती है, बशर्ते प्रयोग करने में वांछित सावधानी बरती गई हो। यह सावधानी जिस कहानी में नहीं बरती गयी वह कहानी सौन्दर्यविस्तार के अन्य तत्वों से लैस होकर भी फूहड़

और उबाऊ हो जाती है जैसे जायसवाल जी की ही एक कहानी ‘त्राहिमाम’। इस कहानी में सत्तर से भी ज्यादा मुहावरे और पच्चीस से भी अधिक लोकोक्तियाँ हैं, मानों कि कथाकार ने एक ही कहानी में इनसे अपने कंठ का भार उतार लेने की ठान रखी हो! ‘अगले साल फिर अगले साल’ में भी कुछ इस तरह का ही प्रयोग हुआ है जिससे कहानी भौंडी होकर पठन-पाठन में बाधा उत्पन्न करती है। ऐसी कहानियाँ रचनाकार की सिद्धि को भी प्रभावित करती हैं।

श्रीपत राय का मानना है कि ‘भाषा-शैली उस प्रक्रिया को कहते हैं जिससे हम अभिव्यंजना का स्वरूप स्थिर करते हैं’। यह अभिव्यक्ति साहित्य में शब्दों के माध्यम से होती है। साहित्य अन्ततः इसी आत्माभिव्यक्ति का नाम है। इस अभिव्यक्ति की सफलता अथवा असफलता के मानदंड से साहित्य का परीक्षण होता है। लेखक अपने शब्द चयन में किस सीमा तक संवेदनप्रवण है यही उसकी शैली कहलाती है। यदि विचार उलझे हुए या अस्पष्ट हैं तो भाषा भी उसी सीमा तक उलझी हुई और अस्पष्ट होगी और लेखक अपनी बात पाठक तक पहुँचा नहीं सकेगा। जब विचार सुस्पष्ट नहीं है तो उसका संचरण हो ही नहीं सकता।... जब हम शैली के चमत्कार की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि शब्दों की बहुलता से पाठकों को आक्रान्त किया जाय। इस शब्द-चातुरी को भाषा-शैली नहीं कहा जा सकता। इसे अनर्गल कोलाहल एवं भाषा हनन मानना चाहिए’।

जायसवाल न तो ऐसे अलंकार की ‘महामूर्खता’ करते हैं और न ही शब्द-चातुरी। हाँ, अपनी कलाकृतियों को अलंकृत करके उसका सौन्दर्य निखारना कौन कलाकार नहीं चाहेगा! यह पूछने पर कि आप अपनी भाषा का अलंकरण कैसे करते हैं, जायसवाल जी एक छोटा-सा आख्यान सुना देते हैं। ‘मैथिल और संस्कृत के विद्वान हरिमोहन झा की एक कहानी है जिसमें साहित्य यश-कामी एक शिष्य अपने गुरु से अपनी रचना के लिए भाषा के अलंकरण का तरीका

पूछता है। शिष्य शहरों-महानगरों में भी रह चुका है, परन्तु खुद को 'देहाती' मानना अपनी खुशनसीबी समझता है (जायसवाल जी की तरह ही) और इस कारण वह भारत की दो-तिहाई आबादी के जीवन-संसार को अपना रचना-संसार मानता है। गुरु अपने शिष्य की इस विलक्षणता को भली-भांति जानता है इसलिए वह उन्हें सलाह देता है कि तुम गाँव-देहात की औरतों के झगड़े कान खोलकर और आँख पसार कर सुनो-देखो। तुम्हें वहाँ ढेर सारे उपमा-उपमेय, विशेषण-अलंकार सब मिल जायेंगे।

गाँव के ज्ञानी से ज्ञानी पंडित भी अपने दैनिक प्रयोग के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपने कन्धों पर उठाये नहीं फिरते, वहाँ के आजिल-फ़ाजिल की जुबान पर भी फ़ारसी के भारी-भरकम शब्द नहीं होते, वहाँ 'हिन्दी' बोली जाती है, ख़ालिस आँचलिक हिन्दी! मिथिला, अंगिका, मगह, भोजपुर...हर जगह की अपनी बोली अलग-अलग बानगी और स्वाद लिए हुए। कुछ अनगढ़-सा, कुछ अटपटा-सा। रेणु की तरह ही जायसवाल भी औरतों के इन्हीं झुंडों से, मर्दों के चौपालों से, खेत-खलिहान में अपनी फसलों और मवेशियों के साथ संवाद साधते किसान-मजदूरों से, जनम और मृत्यु को बांधते लौकिक व्यवहारों से अपनी रचना हेतु शब्द ग्रहण करते हैं। परन्तु दोनों में एक मौलिक अंतर है। जहाँ रेणु ने अपने पात्रों को उनकी भाषा की अनगढ़ता में बोलने की निरंकुशता दी हुई है, वहीं जायसवाल ने इन्हें सम्प्रेषण के अनुशासन से बाँध रखा है। दुखिया दास कबीर, टेढ़ा आँगन, टेढ़े गाछ की साया, सिद्धांजन, रिश्ता, कालभंजक, तेरा चोला मगन रहे माई, विपर्यय, ऐसी कई कहानियाँ हैं जहाँ यह प्रयोग आसानी से द्रष्टव्य है। हालाँकि, कहीं-कहीं उनका यह अनुशासन ढीला भी पड़ा है और गाँव-देहात के बोल-बचन को काहानी में उतार लाने का उनका उत्साह कुछ ज्यादा बाढ़ फाँदता दिख जाता है। कह सकते हैं कि इन रचनाओं

के रचने से पहले जायसवाल जी गाँव-देहात में झगड़ती औरतों के बीच कुछ ज्यादा ही रम गए थे। 'त्राहिमाम' में लोकोक्तियों और मुहावरों के जमघट की बात तो की ही जा चुकी है, कहानी में प्रवेश करते ही 'मुँह झौंसी', 'गुह खौकी', 'गुहा छीछी', जैसी भुच्च देहाती गालियों और अश्लीलता के रंजक संवादों की बहुलता में पाठक को ऊब होने लगती है। उनका एक उपन्यास 'दाह' है। इस उपन्यास में यथार्थ चित्रण के नाम पर औरतों के झगड़ों में प्रयुक्त गालियों, वक्रोक्तियों, विकृत दैहिक प्रदर्शनों, मंत्र-तंत्र-जादू-टोने में प्रयुक्त धन्धेनाजों के आव-भाव का ऐसा अतिरेक है कि रचना खुद ही जायसवाल-विरचित होने का संदेह पैदा करती है। इस उपन्यास पर राजेन्द्र यादव जी की एक टिप्पणी इस विमर्श के लिए सर्वथा उपयुक्त है जो जायसवाल जी की रचनात्मक विशिष्टताओं और इस रचना विशेष में हुई उनकी रचनात्मक चूक को ईमानदारी से इंगित करता है। "शोक पर्व" कहानी का अगला विस्तार आपका 'दाह' मैंने पढ़ लिया है। आपके सूक्ष्म निरीक्षण, याददाश्त और जीवंत चित्रण का मैं शुरु से कायल हूँ। उपन्यास शुरु में बहुत रोचक है मगर बाद में जहाँ सारी औरतों की लड़ाइयों, झगड़ों और आरोपों से होती हुई बालों के दिवास्वप्नों, आशंकाओं और भावी अनुमानों में फैलती जाती है वहाँ हर बार लगता है कि आप पिसाई कुछ ज्यादा ही कर रहे हैं।...आपने कहानी के ओवियस (जो कुछ सामने और स्पष्ट है) को तो बेहद कौशल से साध लिया है मगर सब मिलाकर कहानी अपने इस यथार्थ-विस्तारों का अतिक्रमण कैसे करती है इस दिशा में ध्यान कम दिया है। कहानी जहाँ एक-एक पंक्ति में विश्वसनीय रोचक और प्रमाणिक है, वहाँ शायद इसकी आप जरूरत नहीं समझते कि समग्रता में वह कहाँ ले जाती है?" (राजेन्द्र जी का जायसवाल जी को पत्र 17/06/93)

श्रीपत राय का मानना है कि, “मनुष्य की समस्त उक्तियों में शब्द और उसके अर्थ शरीर और प्राण के सामान हैं। अर्थ भाषा का जीवन भी है, उसकी आत्मा भी और प्राणहीन शब्द भाषा को ही निष्प्राण कर देते हैं।...अभिव्यक्ति अन्ततोगत्वा, लेखक के लिए मात्र वैकल्पिक विलाप नहीं है। अभिव्यक्ति मात्र उसकी चेतना नहीं है, न वह मात्र उसकी आत्मिक दृष्टि है। यदि बात यही तक सीमित रहती तो भाषा की समस्या इतनी जटिल नहीं रह जाती। ...मानव भाषा की परिधि की भाषा बहुत ही सीमित है। और इस सीमित भण्डार से ही लेखक को अपनी भाषा गढ़नी पड़ती है और यही उसके विवेक की कठिनतम परीक्षा है। सृजन की भाषा या कहिये साहित्य-भाषा दैनंदिन की चर्चा साहित्य में घटित पात्रों की चर्चा से भिन्न होती है। यह वैभिन्न्य ही साहित्य को समानता से विलगाता है।” (‘कहानी’ 1998 की सम्पादकीय)

सृजन की भाषा को लेकर यह चेतावनी उन सभी कथाकारों के लिए है जो पात्रों के परिवेश में दैनंदिन प्रयोग में होने वाली भाषा का प्रयोग रचना में यथार्थ के लिए अतिरेक में कर जाते हैं। सामान्यतः जायसवाल जी की भाषा कहीं भी बेजान, यांत्रिक, संवेदनहीन और स्मृतिशिथिल नहीं होती। उनकी एक ख्यातिलब्ध लम्बी कहानी है-आघातपुष्प। भाषाई चमत्कार और अतिशय जटिल कथ्य को बेहद सहजता में कह जाने का एक अनुपम उदाहरण है यह रचना! उत्तेजना और वासना रहित किसी विवाहिता का

कलातुर ऐसा मोहक और कामना जनित प्रेम जो स्त्री-पुरुष के बीच की जटिलताओं को भंग करके प्रेम में समर्पण की धारित सभी अवधारणा को एक बार फिर से पवित्र और प्रतिष्ठित कर दे, का प्रयास करती है यह कहानी। निष्कलुष आत्मिक समर्पण...फ्रायड के सिद्धांतों को झुठला सकने वाला सैक्स रहित प्रेमगाथा... दैहिक बिम्बों का परा दैहिक दोहन...वनस्पतियों (फूलों) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानवी उत्कर्ष का चित्रण! यथार्थ का ऐसा भावनात्मक उत्कीर्णन शब्दों के अति कुशल प्रयोग से ही सम्भव है।

‘डोर’ में मानवेतर पात्र (एक कुत्ता) की भावप्रवणता, ‘मनबोध बाबू’ का मनोविश्लेषण, ‘मर गया दीपनाथ’ में प्रकट हिन्दू-मुस्लिम के मानवीय रिश्ते, ‘हिंमवा घाट में पानी रे’ में राजनैतिक छलावों के घात, ‘जंग’ में जाग्रत मानवी चेतना, ‘नकवेसर कागा ले भागा’ में सामाजिक हाशिये पर पलता प्रेम और स्वाभिमान, ये सब अपनी पूरी विश्वसनीयता में कागज़ के पत्रों पर यदि अवतरित होते हैं तो यह अवतरण सिर्फ और सिर्फ शब्द-साधना से ही संभव होता है। शब्द-साधना जो ब्रह्म-साधना है, संवेद साधना है, लोक साधना है...जिसकी भाषा सधी हुई है वह ही विश्व-साधक, यानी रचनाकार है! इसे साधकर ही कोई रेणु होता है, कोई जायसवाल। कोई भी साधना किसी परंपरा का मुखापेक्षी नहीं होती, हाँ, उसकी जड़ें परम्परा-खोजी हों तो हों।

संपर्क : ‘हिमाद्री’, 54, राजेश्वर नगर फेज़ 1, लेन 1, स्ट्रीट 5, सहस्रधरा रोड,
देहरादून - 248002 (उ.ख.) मो. 9717022082

21वीं सदी का कथा साहित्य: बदलता परिदृश्य**-डॉ. रीता सिन्हा**

किसी भी देश का साहित्य अपनी समसामयिक वैचारिकी और पारिस्थितिकी से प्रभावित होता है। जब राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में परिवर्तन होता है, तो सामाजिक मूल्यों और वैचारिकी में भी स्वतः ही परिवर्तन दिखाई देने लगता है। यदि हिंदी कथा साहित्य के विकास का अवलोकन करें तो इसमें विश्लेषित समाज की वैचारिकी समय-समय पर बदलती हुई दिखाई देती है। जब परिस्थितियाँ बदलती हैं, तो जाति, धर्म, मूल्य, संस्कृति, पारंपरिक मूल्यों आदि से संबंधित सोच एवं विचार भी बदलने लगते हैं। प्रेमचंद के अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है, लेकिन उनके कथा साहित्य में सन 1936 के पहले के ही भारतीय समाज का परिदृश्य है। हालांकि जीवन की कुछ स्थितियाँ, लोगों के कुछ भाव और मानव मन के श्वेत-श्याम पक्ष सार्वकालिक और सार्वदेशिक होते हैं, लेकिन इसके बावजूद विकास के क्रम में कई तरह की नवीन परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता या अपनी महत्वाकांक्षा के कारण इन नवीन परिस्थितियों से समझौता करता है या समझौता करने के लिए बाध्य होता है। इससे पारिवारिक स्थितियाँ भी बदलती हैं और सामाजिक परिदृश्य में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है।

21वीं सदी कई तरह के बदलावों का दौर है। इस सदी में भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, नव शहरीकरण, नव औद्योगिकीकरण आदि के कारण समाज का बदलता हुआ स्वरूप हमारे सामने आया है और भारतीय समाज और संस्कृति में पाश्चात्यीकरण की क्रिया-प्रतिक्रिया देखी जाने लगी है जिसका विस्तृत विवेचन इस दौर के कथा साहित्य में मिलता है। कुणाल सिंह युवा कथाकार हैं जिनकी कहानियों में युगीन वैचारिकी अपनी समस्त विडंबनाओं के साथ मिलती है। इनकी कहानी 'इति गोंगेश पाल वृत्तांत' (गद्य कोश) में 21वीं शताब्दी में भूमंडलीकरण के प्रभाव के कारण परिवर्तित समाज, प्रशासनिक गतिविधियों, सोच, चिंतन, संस्कृति आदि का काफ़ी विसंगतिपूर्ण चित्रण है। महानगरों की संस्कृति अब जैसे अमेरिका की संस्कृति से होड़ लेने के लिए अंध दौड़ में सम्मिलित है। अब यहाँ केवल पुरुषों के लिए ही स्त्रियों की उपलब्धता के कैटलक नहीं हैं, बल्कि स्त्रियों के लिए पुरुषों की उपलब्धता के भी कैटलक हैं। शहरों में जगह-जगह राजनीतिक, धार्मिक, बाज़ारवादी नारों के टैग दिखाई पड़ते हैं, केवल लिखे हुए ही रूप में नहीं, बल्कि जुलूसों में भी। ज्योतिष, जादू, शॉर्ट कट रास्ता, महत्वाकांक्षा, बाज़ारवादी युग की मानसिकता आदि को इस कहानी में चित्रित करने की कोशिश की गई है। कुणाल सिंह की अन्य कहानी 'शिकार' झूठ से अपना कारोबार चलाने वाले की ऐसी जीवन-स्थितियों को प्रत्यक्ष करती है जिनमें कई तरह की विडंबनाएँ और विवशताएँ हैं। मनुष्य की भूख आज सारे

मूल्यों को तार-तार कर रही है। यह भूख कहीं पेट की है तो कहीं महत्वाकांक्षाओं की।

जितेन ठाकुर ने अपनी कहानी 'चारागाह' (हंस, जनवरी 2024) में बड़ी ही लालित्यपूर्ण भाषा एवं शैली में विकास के लिए अंधाधुंध प्रयत्न में चारा बन रहे मनुष्यों की ज़िन्दगी की मार्मिकता को हमारे समक्ष प्रत्यक्ष किया है। आज पर्यावरण की समस्या केवल हमारे ही देश की नहीं है, बल्कि वैश्विक है। गोरैया, घुग्गी, कबूतर, रंग-बिरंगे पक्षी, पेड़-पौधे आदि महानगरों एवं बड़े शहरों से लुप्त होते जा रहे हैं। अब पार्कों में ठहाके लगाते वृद्धों की टोली भी नहीं दिखती है क्योंकि संस्कारविहीन, संवेदनहीन और दिशाहीन युवाओं की बाइक की हाई स्पीड के कारण अपनी ज़िन्दगी से हाथ धोते वृद्धों में अब धीरे-धीरे चलकर पार्क में जाने का साहस नहीं बचा है। प्रकृति अपने सौंदर्य को विकास के चारागाह में खोती जा रही है। आकाश, वृक्षों, पक्षियों, वृद्धों और मनुष्यों के जीवन की तस्वीरें बदल रही हैं।

21वीं सदी के साहित्य में कई तरह की नवीन वैचारिकी है। नव शहरीकरण आज अपने चरम पर है। सूचना क्रांति ने लोगों की सोच बदल दी है। भूमंडलीकरण ने भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों के लिए नए रंगों का कैनवास तैयार किया है। छल-प्रपंच, आपाधापी, मशीनीकरण, आगे बढ़ने की अंध-दौड़ में विकलांग बन रही ज़िन्दगी आदि के परिणाम अलका सरावगी के 'एक ब्रेक के बाद उपन्यास' में देखने को मिलते हैं। एक मल्टीनेशनल कंपनी का सीईओ गुरुचरण अवसाद और तनाव के चरम पर पहुँचकर बिना किसी को बताए फूलों की घाटी में सौंदर्य और प्रेम की तलाश करने चला जाता है लेकिन वहाँ भी उसे सच्चे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि प्रेम का स्वरूप अब उपभोक्तावादी हो गया है।

आज बड़े-बड़े शहरों के सौंदर्यीकरण के लिए दिन-रात निरंतर चलने वाली खुदाई, छोटे-छोटे उद्योग-धंधों को खत्म करके उसकी जगह पर बड़े-बड़े मॉल के निर्माण की तैयारी आदि के कारण यहाँ के जनमानस पर विपरीत प्रभाव भी पड़ने लगा है। जाम के कारण परेशानी बिल्कुल आम बात है। कूड़े-कचरे, बिजली के बेतरतीब इधर-उधर फैले तारों आदि के कारण शहरियों की ज़िन्दगी में आराम कम है, तनाव अधिक है। अलका सरावगी ने 'जानकीदास तेजपाल मैनसन' में कलकत्ता के बदलते स्वरूप का जो चित्रण किया है, उसका अनुभव हम हर महानगर और बड़े शहरों में करते हैं—“कलकत्ता ऊपर से गाड़ियों से जाम था और जमीन के नीचे तीन सौ से ज्यादा सालों के कूड़े-कीचड़-मल से। जब-तब जहाँ-तहाँ खोदनेवालों में बिजली सप्लाई और टी. वी. या मोबाइल कनेक्शन वाले भी थे, जो फुटपाथ खोदते और उनके बीच में आनेवाली सड़कें भी। अक्सर ये लोग सड़क के इस पार से उस पार तक तार फेंक देते और उन्हें बिजली के खम्भों पर गोल-गोल गुच्छों में लटका देते। इन तारों पर गोरैया और बुलबुलें झूलती रहतीं। धरती क्या, इस शहर का आकाश भी खोदा हुआ था”। (पृ. 10-11) आज के युवा मल्टीनेशनल कंपनियों में काम करने का सपना देखते हैं। ये कंपनियाँ बड़ा आर्थिक पैकेज तो देती हैं, लेकिन युवा किस तरह के मानसिक तनाव और अवसाद में रहते हैं, इसका चित्रण 'समय अश्व बेलगाम' उपन्यास में चंद्रकांता ने किया है। मल्टी नेशनल कंपनियों की सोच अपने मुनाफ़े पर केंद्रित रहती है। छंटनी का सिलसिला वहाँ निरंतर चलता रहता है। अमेरिका जैसे देशों में नौकरी इतनी कम है कि नौकरी करने वाले के सिर पर हमेशा तलवार लटकी रहती है। शहर निरंतर बदल रहा है। केवल ऊपरी सतह पर ही नहीं, बल्कि भीतर से भी। 'ये वो सहर तो नहीं' में पंकज सुबीर

ने 1857 से लेकर 2007 के भारतीय परिदृश्य का जो चित्रण किया है, वह हमें झकझोरता है। आज़ादी के पहले की भारतीय परिस्थितियों की तुलना यदि आज की लोकतांत्रिक स्थितियों से की जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

आज का युग डिजिटल युग में पहुँच चुका है। आज न्यू मीडिया यानी फेसबुक, ट्यूटर, इंस्टाग्राम, यूट्यूब, ब्लॉग आदि ने लोगों के सोचने, कार्य करने के तरीके आदि को काफ़ी प्रभावित किया है। इसके माध्यम से सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध करने की कोशिश भी लगातार चल रही है। कोरोना ने भी लोगों को काफ़ी प्रभावित किया है और इधर सच बोलने के खतरे इतने बढ़ गए हैं कि सत्य के लिए प्रतिबद्ध व्यक्ति को आतंकवादी सिद्ध करके देश के लिए उसे एनकाउंटर कर दिया जाता है। इस दृष्टि से प्रियदर्शन की कहानी 'देश के लिए' काफ़ी मार्मिक कहानी है (हंस, जनवरी 20024)

कथा साहित्य अपने समय के यथार्थ और युग की विसंगतियों को हमारे समक्ष रखता है और सच को हमारे समक्ष रखने के लिए यह प्रतिबद्ध दिखाई देता है। जयनंदन ने 'रहमतगंज के जिल्लू मिया' कहानी (हंस, दिसंबर 2023) में गोरक्षा के नाम पर स्वार्थ की सिद्धि और दिशाहीन युवकों की संवेदनहीनता का काफ़ी मार्मिक चित्र खींचा है। शहर हो या गाँव, मूल्यहीनता आज के कथा साहित्य में अपने चरम पर है। ऐसा नहीं कि इसके पहले के साहित्य में ऐसी स्थितियों का चित्रण नहीं है, लेकिन आज की तरह उन्माद वहाँ नहीं दिखाई पड़ता है और जिस तरह की बयार बह रही हो, उसमें स्वार्थ के लिए मनुष्यता को पूरी तरह खत्म कर देने की स्थिति भी पहले के कथा साहित्य में आज की तरह दिखाई नहीं पड़ती है।

उपन्यास में शोध का महत्त्व रहा है, क्योंकि स्थितियों और यथार्थ के प्रामाणिक चित्रण के लिए शोध आवश्यक है। 21वीं सदी में शोध पर आधारित उपन्यासों का भी प्रकाशन हुआ है लेकिन इस शोध में इस सदी की नवीन वैचारिकी का समावेश है। संजीव का उपन्यास 'रह गई दिशाएँ इसी पार' इस दृष्टि से काफ़ी महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। टेस्ट ट्यूब बेबी जिम किसको माँ कहेगा? माँ को या नानी को? यह उसके लिए केवल कठिन प्रश्न ही नहीं है, बल्कि यह प्रश्न उसके मन को निरंतर एक नई बेचैनी से भरता रहता है। उसे जन्म तो उसकी नानी ने दिया है, फिर वह माँ को माँ कैसे कहेगा? इस उपन्यास में जिम की प्रतिकूल सामाजिक स्थितियाँ उसे संवेदनहीन बना देती हैं। संजीव ने इसमें वंशवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि से संबंधित कई तरह की मनोग्रंथियों का विश्लेषण किया है और नैतिक मूल्यों का प्रश्न उठाया है। इसमें एक बेटी अपने पिता को ज़िन्दा रखना चाहती है, क्योंकि उसे लगता है कि उसके पिता जीनियस हैं इसलिए वह अपने गर्भ में पिता के भ्रूण का प्रत्यारोपण करवाना चाहती है, लेकिन उसकी हत्या उसी की माँ के द्वारा कर दी जाती है। इस उपन्यास में संजीव की यह चिन्ताकुलता उचित ही प्रतीत होती है- "क्या होगा वह दिन जब हर इंसान डी.एन.ए. कार्ड लटकाकर चला करेगा, परिचय पत्र की तरह, जो बतायेगा कि वह किस रोग का संभावित शिकार है, उसका आई क्यू क्या है...वह फलां-फलां कार्य के लिए योग्य है और फलां-फलां कार्य के लिए अयोग्य...। नंगा हो जाएगा पूरी तरह से, नंगा और एक्स्पोज्ड! उसे डर लगेगा, गैरों से भी और खुद से भी...। भारी अराजकता छा जाएगी। सत्य को धुंधला ही रहने देना चाहिए"। (रह गई दिशाएँ इसी पार, पृ.81)

वंदना राग का उपन्यास 'बिसात पर जुगनू' ऐतिहासिक शोध को सामने लाता है तो मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास 'मल्लिका' नवजागरण काल और मल्लिका के माध्यम से भारतेंदु हरिश्चन्द्र के जीवन का विश्लेषण करता है। इधर प्रकाशित गरिमा श्रीवास्तव का उपन्यास 'आउशवित्ज एक प्रेमकथा' भी शोध पर आधारित एक अद्भुत उपन्यास है जिसमें स्त्री की अस्मिता को तार-तार करने वाली पुरुषों की तानाशाही और पतनशील मानवता की बेहद यथार्थवादी और दर्दनाक कथा के परिप्रेक्ष्य में विश्व के ऐतिहासिक तथ्य और कई रचनाकारों की काव्य-पंक्तियाँ हैं, जो कथ्य को और भी मार्मिक बनाती हैं। आउशवित्ज हिटलर की नात्सी सेना के द्वारा यहूदियों के समूल को नष्ट करने के लिए एक यातना शिविर था, जिसे अब संग्रहालय बना दिया गया है। गरिमा श्रीवास्तव ने इस उपन्यास में एवा मोज़ेज़ कोर (Eva Mozes Kor) का एक उद्धरण लिया है—“Anger is seed for war, forgiveness is seed for peace. Forgive your worst enemy, it will heal your soul and will set you free”. (पृ.140) भारतीय संस्कृति में क्षमा का काफ़ी महत्त्व रहा है। क्षमा मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों को संतुलित करके व्यक्ति को स्वस्थ बनाती है। राष्ट्रकवि दिनकर की दृष्टि में सामर्थ्यवान की क्षमा का महत्त्व है—“क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो”। आज जब संपूर्ण विश्व तनाव के चरम पर है, तो मानवता की रक्षा के लिए और विश्व को युद्ध से बचाकर भीषण नरसंहार को रोकने के लिए गरिमा श्रीवास्तव संभवतः क्षमा को महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखती हैं।

21वीं सदी के कथा साहित्य में कई तरह के विमर्शों जैसे दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, दिव्यांग विमर्श, वृद्ध विमर्श, आदिवासी विमर्श, संस्कृति विमर्श,

पर्यावरण विमर्श आदि की गहमागहमी वैश्विक धरातल पर भी दिखाई देने लगी है। चित्रा मुद्गल, चंद्रकांता, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला, उषा प्रियंवदा, दिव्या माथुर, गीतांजलि श्री, अनामिका, अल्पना मिश्र, मधु कांकरिया, मनीषा कुलश्रेष्ठ, गरिमा श्रीवास्तव आदि के उपन्यासों में प्रगतिशीलता, दमघोंटू माहौल से स्त्री की स्वतंत्रता के लिए लगातार प्रयत्न, स्त्रियों के मौन या मुखर विरोध या प्रतिरोध आदि के स्वर, अस्मिता के लिए उनके संघर्ष आदि को देखा जा सकता है। अल्पना मिश्र ने 'अन्हियारे तलछट में चमका' में औद्योगिकीकरण के कारण लखनऊ के बदल रहे आंतरिक और बाह्य स्वरूप का चित्रण किया है। इसमें प्रेम का बाज़ारीकरण, नपुंसकता के कारण पति की कुंठा और उसके मानसिक तनाव का पत्नी पर कुप्रभाव, नौकरी करती स्त्री की परिवार में स्थिति, अंधविश्वास आदि का यथार्थपरक चित्रण है। इन्होंने अपने उपन्यास 'अस्थि फूल' में भी स्त्रियों के क्रय-विक्रय, विवाह के नाम पर उनके शोषण आदि के प्रश्न उठाए हैं। आज कई राज्यों में स्त्रियों की बिक्री हो रही है और 21वीं सदी में ऐसी स्थितियाँ हमारे लिए चिन्ताजनक ही नहीं, शर्मसार करने वाली भी हैं। अल्पना मिश्र ने अपने नए उपन्यास 'अक्षि मंच पर सौ सौ बिंब' में परिवार के रूढ़िवादी संस्कारों, कुंठा, बदल रहे पारिवारिक संबंधों, प्रगतिशील स्त्री का परिवार और समाज द्वारा मानसिक दोहन एवं अपमान आदि का मार्मिक चित्रण किया है। इसमें बीच-बीच में काव्यात्मक भाषा में जीवन के यथार्थ और दर्शन का भी चित्रण है। “लगत है हर आदमी बीमार है...कि सारा समाज ही मानसिक बीमारी की चपेट में फंसा...कि सारी दुनिया किसी गहरी निराशा में छटपट करती...सबको इलाज की जरूरत थी...”। इस उपन्यास में पिता के मृत्योपरांत नीली द्वारा पिता का अग्निसंस्कार करने के उपरांत तेरहवीं तक अपने परिवार और समाज के द्वारा

मानसिक उत्पीड़न का काफ़ी विडंबनायुक्त चित्रण है। यह तेरह उपशीर्षकों में वर्णित है। हमारे हिंदू समाज में आज भी यह मान्यता है कि पुत्र ही माता-पिता का दाह-संस्कार कर सकता है, पुत्री नहीं कर सकती। इधर शिक्षित और प्रगतिशील लड़कियों ने यह मान्यता तोड़ी है, लेकिन रूढ़िवादी समाज और परिवार इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाता है। परिणामतः पिता का दाह-संस्कार करने वाली पुत्री को कई तरह की मानसिक यंत्रणाओं से गुज़रना पड़ता है।

इधर किन्नरों के जीवन पर कई उपन्यास लिखे गए हैं क्योंकि न्यायालय भी किन्नरों को सामाजिक महत्त्व प्रदान करने और उन्हें लोकतांत्रिक अधिकार देने के लिए प्रतिबद्ध है। पर, समाज में किन्नरों की जीवन-स्थितियाँ आज भी काफ़ी त्रासद हैं। समाज के भय से परिवार द्वारा निष्कासित किन्नर किस तरह अपने सरदारों, नेताओं और विभिन्न माफियाओं के द्वारा शोषित होते हैं, शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित होते हैं और उन्हें किस तरह राजनीतिक हथियार बनाकर उनके जीवन को त्रासदीयुक्त बना दिया जाता है, इसका मार्मिक चित्रण चित्रा मुद्गल के उपन्यास ‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा’ में मिलता है। तीसरे जेंडर के जीवन की अंतहीन विडंबनाओं को प्रदीप सौरभ ने भी अपने उपन्यास ‘तीसरी ताली’ में अभिव्यक्ति दी है।

21वीं सदी के कथा साहित्य में लिव इन रिलेशन या समलैंगिकता का भी खुला या विसंगतिपूर्ण चित्रण देखा जा सकता है। चन्द्रकांता का कहानी संग्रह ‘अलकटराज देखा’? में आज की स्त्रियों की पीड़ा, संतान के लिव इन रिलेशनशिप के कारण पुरानी पीढ़ी का तनाव, लिव इन रिलेशन में रहने पर पुरुष की निर्बंध और निर्द्वन्द्व मानसिकता, दूसरी लड़कियों की ओर भी उसका आकर्षण और लिव इन रिलेशन में रह रही लड़की का पारंपरिक बोध जिसमें

वह अपने पुरुष को दूसरे की ओर आकर्षित होते नहीं देख सकती, पुरुष की समलैंगिकता के कारण स्त्रियों के जीवन की वेदना, प्रवासी स्त्रियों की पीड़ा आदि का मार्मिक चित्रण मिलता है। चित्रा मुद्गल ने भी ‘आंगन की चिड़िया’ में बेटी के लिव इन रिलेशन के कारण माता-पिता की ऐसी मनःस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है जिसमें माता-पिता को यह एहसास होता है कि उसकी यह बेटी उसकी अपनी बेटी है ही नहीं। “अप्रत्याशित पराएपन के बोध ने उन्हें ऐसी चोट दी, जिससे काफ़ी देर तक वे उबर नहीं पाए”।

अप्राकृतिक सेक्स और यौन कुंठाओं के कारण समाज में कई तरह की विरूपताएँ विकसित होती हैं जिससे मूल्यों की धज्जियाँ तो उड़ती ही हैं, सामाजिक भावों और नैतिक संबंधों के लिए कई तरह की आशंकाओं के बीच जीवन का संतुलन भी बिगड़ने लगता है। भारतीय समाज के निम्न मध्य वर्ग में बच्चे को मारना-पीटना आम बात है, लेकिन इसका क्या मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ता है और बच्चे की ज़िन्दगी की दिशा किस तरह परिवर्तित और असंतुलित होती है, भारतीय समाज में हिन्दू-मुसलमान के संबंध क्या थे और अब क्या हो गए हैं, पादरियों, पुजारियों और मास्टर्स की अराजकता और अनैतिक आचरणों का समाज के ऊपर किस तरह का विपरीत प्रभाव पड़ता है आदि का काफ़ी मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है दिव्या माथुर के उपन्यास ‘तिलिस्म’ में। जब मानवीय मूल्यों को तार-तार किया जा रहा है और सामाजिक सौहार्द निरंतर बद से बदतर हो रहे हैं तो ऐसे में मानव मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में नैतिक और सामाजिक मूल्यों को बचाने के लिए प्रेरित करता हुआ यह एक अद्भुत उपन्यास है।

‘सा विद्या या विमुक्तये’ को महत्त्व देने वाली भारतीय शिक्षा-व्यवस्था आज किस ओर जा रही है इसका अवलोकन हम गोविंद मिश्र के उपन्यास ‘धूल

पौधों पर' में कर सकते हैं। प्रोफेसर द्वारा यौन शोषण, अराजकता, ज्योतिष एवं पूजा-पाठ के पाखंडों आदि के बीच परिवार और समाज में असुरक्षा के भावों से त्रस्त कोई स्त्री समाज में ऐसी सुरक्षा को तलाशती ही है, जहाँ वह पूरी तरह आश्वस्त रहकर जीवन को जी सके। इस उपन्यास में गोविंद मिश्र ने आज के भारत की शैक्षिक, सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों का काफ़ी विडंबनायुक्त चित्रण किया है जो हमें विचलित करता है।

21 वीं सदी में उपभोक्तावादी संस्कृति और बाज़ारवाद के बीच पनपता सेक्स एक पूँजीवादी शक्ति के रूप में उभरकर सामने आने लगा है। इसे उदय प्रकाश के उपन्यासों में देखा जा सकता है। गीताश्री की कहानी 'प्रार्थना के बाहर' सेक्स की कुंठा से बाहर निकलने की कोशिश है, तो जयश्री राय की कहानी 'अहल्या' अपनी अस्मिता को सर्वाधिक महत्त्व देने और पुस्त्र के सहारे को नकारने की ऐसी कहानी है, जिसमें पितृसत्ता के अहं को तोड़ने और मानवीय मूल्यों को जगाने की कोशिश दिखाई पड़ती है। नीलाक्षी सिंह की कहानी 'परिदे का इंतज़ार-सा कुछ' धार्मिक उन्माद की स्थिति में मानवीय मूल्यों की तलाश करती हुई आज के युवाओं की मनःस्थितियों का चित्रण करती है।

21वीं सदी में ऐसे उपन्यासों का भी प्रकाशन हुआ है, जिसमें प्रगतिशील विचारों के क्रियान्वयन में विवेक के प्रयोग को महत्त्व दिया गया है। गिरिराज किशोर का उपन्यास 'इक आग का दरिया' भी ऐसा ही उपन्यास है जिसमें पारंपरिक विचारों और आधुनिक विचारों में समन्वय एवं संतुलन रखने और तर्कबुद्धि से कार्य करने में ही ज़िन्दगी जीने की कला का सौंदर्य देखा गया है। अवसाद, तनाव, दुख या अकेलेपन की पीड़ा का इलाज शराब में ढूँढ़ना जीवन को नष्ट करने का अविवेकपूर्ण प्रयास है। एकल परिवार की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि आज

लोग अकेलेपन के कारण निरंतर तनाव से संघर्ष कर रहे हैं। 'ऋतुराज' में निर्मल कुमार ने शंकराचार्य के जीवन को केंद्र में रखकर न केवल अतीतकालीन परिदृश्य को समकालीन परिप्रेक्ष्य में हमारे समक्ष रखा है, बल्कि मानवीय मूल्यों को भी सर्वाधिक महत्त्व दिया है। 'वराहमिहिर' में डॉ. घनश्याम पांडेय ने गुप्तकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शकों और हूणों के माध्यम से आज की विसंगतियों को प्रत्यक्ष किया है। 'काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरियों की धार से' उपन्यास में सुरेन्द्र वर्मा ने कालीदास के जीवन को केंद्रित किया है और कालीदास के माध्यम से आज के लेखकों की स्थितियों और मनःस्थितियों को हमारे समक्ष रखा है। एक लेखक की लोक-प्रसिद्धि तभी संभव है, जब उसकी रचनाएँ प्रकाशित हों और उसे सम्मान मिले और इसके लिए आज भी लेखकों को सत्ताधारियों के वरदहस्त की आवश्यकता पड़ती है। आज हम हृदय की बात की उपेक्षा करके बुद्धि और तर्क को महत्त्व देने लगे हैं। हृदय अनुचित और अनैतिक कार्यों से हमें रोकता तो है, लेकिन हमारे ऊपर स्वार्थ जब हावी होता है, तो हम हृदय की बात की उपेक्षा कर देते हैं। इससे हमारी बैचेनी बढ़ती है और तनाव भी बढ़ता है। इस उपन्यास में सुरेन्द्र वर्मा ने बाहरी यथार्थ के साथ मन के यथार्थ का भी चित्रण किया है।

21वीं सदी के कथा साहित्य में वरिष्ठ एवं प्रौढ़ लेखकों के साथ युवा लेखकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है जिससे इसमें एक ओर परिपक्व मस्तिष्क और अनुभूति प्रवण विचारों की गंभीरता मिलती है तो दूसरी ओर युवाओं की उत्तर आधुनिक सोच एवं अतिशय महत्वाकांक्षा के कारण अवसाद, अजनबीपन, तनाव एवं कुंठायुक्त वातावरण का चित्रण मिलता है। यह दौर सूचना तकनीकी के विकास का दौर है, बाज़ारवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति एवं

मानसिकता का दौर है, जाग्रतावस्था में युवाओं के स्वप्न देखते रहने का दौर है और भ्रम में जीने एवं उन्माद को बढ़ावा देने का दौर है जिससे इस समय के कथा साहित्य में कथ्य, भाषा और शिल्प में पहले की अपेक्षा काफ़ी बदलाव दिखाई देता है।

अखिलेश का 'निर्वासन' उपन्यास एक ओर भारतीय जातिवाद के जटिल यथार्थ को विश्लेषित करता मानव मनोविज्ञान और भारतीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सामने लाता है, तो दूसरी ओर यह प्रश्न भी उठाता है कि उत्तरआधुनिक जीवन शैली या वैचारिकी मानव-जीवन के लिए कितना उपयोगी है?

अखिलेश 'निर्वासन' में जातिवाद की विरूपताओं और विसंगतियों का जिस तरह चित्रण करते हैं और पुरोहित महाराज की नृशंसता और निर्ममता का यूटोपियाई परिणाम सामने रखते हैं, वह काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ प्रतीत होता है क्योंकि भारतीय दर्शन और गीता में कर्म और कर्मफल की अवधारणा है जो भारतीयों की चेतना और कल्पना में स्थित है। पुरोहित महाराज से एक दलित कैसे बहस कर सकता है? इस प्रश्न का भी अपना समाजशास्त्र है, जिसमें सामंती दमनकारी मानसिकता का विध्वंसकारी खेल भी समय-समय पर चलता रहता है। जातिवाद का समाजशास्त्र भगेलू कुम्हार के इस मिथ्या कथन से भी सामने आता है- 'पांडे हूँ सरकार, बाभन'। (पृ.56) इस मिथ्या कथन के पीछे के भय, आशंका, महत्वाकांक्षा और द्वन्द्व आज भी उन लोगों का स्मरण दिला देते हैं जो अपने नाम के आगे जातिसूचक सरनेम नहीं लगाते, फिर भी समाज में पुरोहित महाराज जैसे लोग उनकी जाति की पहचान कर उनके मार्ग को अवरोधों से भर देते हैं। 'निर्वासन' में प्रलाप की मनःस्थिति में चाचा का यह कथन भारतीय समाजशास्त्र को समझने के लिए महत्वपूर्ण सूत्र देता है-

'दरअसल औरत, जाति और धर्म-इन तीनों के नाम पर बुजदिल, नरमदिल, नेकदिल भी ख़ौफ़नाक बन जाता है।...जो लोग रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में घायल परिन्दा देख कर दुखी हो जाते हैं...चीटियों को आटा खिलाते हैं, बंदरों को चना-वे भी दंगों में इन्सान के खून की होली खेलने की बात करने लगते हैं।...और जो जाति है न, शोर कम मचाती है..खून भी कम बहाती है पर भीतरी हिंसा करती है'। (पृ.112-113)

उपन्यासकार अखिलेश आज के उत्तरआधुनिक युग में व्यक्ति के निर्वासन को देखते हैं। यह निर्वासन परिवार, समाज और राष्ट्र से संबंधित है। मनुष्य में आकर्षण और विकर्षण के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होता है, जो स्वाभाविक भी है। मनुष्य के लिए परिवार, समाज या अपने देश से पूरी तरह कट पाना काफ़ी कठिन होता है, क्योंकि उसके साथ परंपरा और संस्कृति के अतिरिक्त ऐसी ढेर सारी स्मृतियाँ भी रहती हैं, जो समय-समय पर उसे या तो विचलित करती हैं या उनमें आनंद भर देती हैं। प्रगतिशीलता के इस युग में भी जातिवाद का ज़हर मनुष्यता को खत्म करके मनुष्य को मनुष्य से ही विस्थापित कर देता है। अखिलेश 'निर्वासन' उपन्यास में अतीत में वर्तमान और वर्तमान में अतीत की कथा के माध्यम से आज के प्रगतिशील समाज को हमारे सामने लाते हैं और इसकी गतिशीलता और अवरोधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हैं।

उपन्यासकार अखिलेश आज के उत्तरआधुनिक युग में व्यक्ति के निर्वासन को देखते हैं। यह निर्वासन परिवार, समाज और राष्ट्र से संबंधित है। मनुष्य में आकर्षण और विकर्षण के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होता है, जो स्वाभाविक भी है। मनुष्य के लिए परिवार, समाज या अपने देश से पूरी तरह कट पाना काफ़ी कठिन होता है, क्योंकि उसके साथ परंपरा और

संस्कृति के अतिरिक्त ऐसी ढेर सारी स्मृतियाँ भी रहती हैं, जो समय-समय पर उसे या तो विचलित करती हैं या उनमें आनंद भर देती हैं। प्रगतिशीलता के इस युग में भी जातिवाद का ज़हर मनुष्यता को खत्म करके मनुष्य को मनुष्य से ही विस्थापित कर देता है। अखिलेश 'निर्वासन' उपन्यास में अतीत में वर्तमान और वर्तमान में अतीत की कथा के माध्यम से आज के प्रगतिशील समाज को हमारे सामने लाते हैं और इसकी गतिशीलता और अवरोधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हैं।

'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में जैन धर्म की विडंबनाएँ हैं। मल्टीनेशनल कंपनियों के आने से पारंपरिक लघु उद्योगों के नष्ट होने, ऐसे उद्योगपतियों के अवसाद के कारण असमय मौत, धर्म को रक्षा-कवच के रूप में देखना, 11 वर्षीय छुटकी का माँ के दबाव में जैन धर्म में दीक्षा, कालांतर में उसका जैन धर्म के भिक्षु से प्रेम और जैन धर्म के भिक्षु के द्वारा उसका बलात्कार और फिर उसके जीवन की त्रासदी का जो चित्र खींचा गया है, वह काल्पनिक नहीं है। धर्म के नाम पर स्त्री उत्पीड़न और शोषण का खेल नए-नए रूपों में पनप रहा है। काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'काशी का अस्सी' में 21वीं सदी के भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के प्रभाव के कारण बदल रही ग्रामीण संस्कृति को देखा जा सकता है। अमेरिका का यांत्रिकीकरण भारतीय समाज में भी इस तरह समाविष्ट होने लगा है कि लोगों के जीवन से हंसी गायब होने लगी है।

काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'उपसंहार' मिथ के माध्यम से आज के उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रत्यक्ष करता है। कृष्ण का प्रभुत्व जब समाप्त हो गया, उनका सुदर्शन चक्र लौट गया और वे देवत्व से वंचित हो गए, तो जो समुद्र उनकी अभ्यर्थना में और उनके चरण प्रक्षालन के लिए निरंतर तत्पर रहता था, वह उनकी उपेक्षा करने लगा। महाभारत के युद्ध

के उपरांत कृष्ण के द्वारका लौटने से इस उपन्यास की कथा आरंभ होती है। इस युद्ध में अनीतियों और अधर्म का सहारा लेकर जीतने वाले पांडव अपने उदात्त भावों से पूर्णतः रिक्त हो जाते हैं, कृष्ण की द्वारका में अराजकता, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि में निरंतर वृद्धि होती जाती है। कृष्ण अपनी मुस्कान से वंचित हो जाते हैं और द्वन्द्व एवं तनाव में धिरे कृष्ण अवसाद की चरम स्थिति में अपने ही हाथों से अपनी द्वारका का विनाश कर देते हैं।

चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडु', हृदयेश का 'चार दरवेश' आदि उपन्यास वृद्धों के जीवन में अपनी ही संतानों के द्वारा ज़हर घोलने के प्रयासों, उन्हें अपमानित करने और उन्हें अवांक्षित समझने की विडंबना को सामने लाते हैं। रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यास अकाल संध्या में गाँव में अकेली रह गई माई की अपने अमेरिका गए अपने पुत्र को देखने, बातें करने आदि की मौन छटपटाहट देखी जा सकती है। इसमें दलितों के जीवन की विषम स्थितियों और कालांतर में सबल होने पर उनकी मानसिकता का शोषक की मानसिकता में बदलने का चित्रण है।

प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' में बिहार से आई मुन्नी के द्वारा सोशल नेटवर्किंग के माध्यम से कॉल गर्ल रैकेट चलाने और अपनी ही बेटी रेखा चितकबरी को इसमें डालकर खूब पैसा कमाने की जो विडंबना सामने आती है, उससे मोबाइल और सोशल नेटवर्किंग का बड़ा ही भयावह पक्ष सामने आता है।

रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में आदिवासियों की परंपरा के नष्ट होने, गाँव में ग्लोबलाइजेशन की झलक, आदिवासियों की ज़मीन पर बड़ी-बड़ी कंपनियों के बनने आदि का चित्रण है, तो इनके दूसरे उपन्यास 'गायब होता देश' में आदिवासी मुंडा के जीवन में भी भूमंडलीय प्रभाव को दर्शाया गया है।

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068

मो. 9818363465, 9933091630

समकालीन हिंदी उपन्यासों में वृद्ध जीवन की विडंबनाएं (चयनित उपन्यासों के आधार पर)

—श्वेता शर्मा

विडंबना का शाब्दिक अर्थ है :-“नक्रल उतारना; चिढ़ाना; छेड़खानी करना; कष्ट देना; निंदा करना; निराश करना; छलना; उपहास का विषय; (पैरोडी) किसी कविता की उन्हीं छंदों या तुकों में नक्रल करने उसका मजाक उड़ाने का प्रयत्न दंभ” इत्यादि। अंग्रेजी में विडंबना के लिए ‘आयरनी’(IRONY) शब्द का प्रयोग किया जाता है। असंगतियों के और उसके स्वीकार का संकेत ही विडंबना है, जिससे सम्पूर्ण काव्य जगत प्रभावित होता है। समीक्षकों द्वारा विडंबना का कई प्रकार से अर्थ विस्तार किया गया है। उनकी दृष्टि में संरचना में विरोधी स्थितियों को साथ-साथ रखना ही विडंबना है। साथ ही विडंबना एक विशिष्ट साहित्यिक प्रत्यय है।

समकालीन हिंदी जगत में साहित्यकार मनुष्य के जटिल जीवन बोध को अभिव्यक्त करने के लिए सशक्त साहित्यिक प्रविधि के तौर पर विडंबना शब्द का भरपूर प्रयोग करते हैं। हास्य-व्यंग्य, विनोद को इसके अंतर्गत समाहित किया जा सकता है, किंतु इसकी व्यापकता और गंभीरता इन शब्दों से कहीं अधिक है। देखा जाए तो विडंबना एक ऐसे पारिभाषिक शब्द के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है जिसके कई रूप मिलते हैं।

अगर गौर करें तो आज 21वीं शताब्दी के नए दौर के सामाजिक जीवनमूल्यों में आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगत हो रहे हैं। इन जीवनमूल्यों के ह्रास के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य में विभिन्न प्रकार के विमर्शों का सृजन हो रहा है। हिंदी साहित्य में बाल-विमर्श, पर्यावरण विमर्श, स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, किन्नर विमर्श, वृद्ध विमर्श इत्यादि तमाम तरह के विमर्श दृश्यमान होते हैं। हिंदी साहित्य में यह विमर्श तब प्रारंभ हुआ जब साहित्यकारों ने युगीन परिवेश में भारतीय समाज की सबसे बड़ी परंपरा संयुक्त परिवार की परिपाटी को टूटते देखा। सभी रचनाकार इस बदलाव का अनुभव कर रहे थे कि किस प्रकार संयुक्त परिवार के विघटन से बुजुर्ग पीढ़ी जिनका संयुक्त परिवार में एक ठोस स्थान हुआ करता था वह उससे च्युत होती जा रही हैं।

बुजुर्ग होती पीढ़ी की समस्याओं, परिस्थितियों, उनके साथ घटित घटनाओं का चिंतन-मनन कर एक उचित समाधान तक पहुंचने की ओर हिंदी साहित्य में पिछले कुछ वर्षों से रचनाकारों ने अपना ध्यान केंद्रित कर कई उपन्यासों का सृजन किया है। इस आलेख के केंद्र में वृद्ध जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर विचार करने वाले चार उपन्यासों को आधार बनाया गया है, जिनमें कृष्णा सोबती द्वारा लिखित ‘समय सरगम’ (2000), रवीन्द्र वर्मा कृत ‘पत्थर ऊपर पानी’ (2000), चित्रा मुद्गल द्वारा रचित ‘गिलिगडु’ (2002) तथा रमेशचंद्र शाह द्वारा सृजित ‘सफ़ेद परदे पर’ (2006) है।

वृद्धावस्था एक प्राकृतिक चरण है। वृद्ध एक परिपक्व व्यक्ति विशेष हैं जिनके पास अनुभवों से भरपूर जिया हुआ जीवन होता है। जिनसे किसी भी प्रकार की समस्या के निदान हेतु मार्ग या सलाह प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन आज की सामाजिक व्यवस्था पर अगर ध्यान केंद्रित किया जाए तो जहाँ पहले एक छत के नीचे कई पुश्तें, पीढ़ियाँ अपना जीवन यापन करती थीं तो आज दो पीढ़ियाँ भी एक दूसरे से अपना समन्वय नहीं स्थापित कर पातीं। आज की युवा पीढ़ी शिक्षा के क्षेत्र में तो अपना परचम लहरा रही है लेकिन संवेदना की डोर उनसे छूटती चली जा रही है। जिन परिवारों में बुजुर्ग पीढ़ी का सम्मान होते कभी बच्चों ने देखा ही नहीं स्वाभाविक है कि बड़े होने पर उनके मानसिक पटल पर अपने बुजुर्ग के प्रति वैसी ही असंवेदनशीलता मौजूद होगी।

‘समय सरगम’ दो पीढ़ियों को सहेजता तथा जिए हुए पलों के सत्य तथा सामाजिक परिवर्तन को दर्शाता है। इसमें बुजुर्ग पात्रों के मन में उपजते तमाम तरह की उलझनों, द्वंद्वों, मृत्यु-चेतना जैसी अनेक मनःस्थितियों को उजागर करता है। पाठकों से यह अछूता नहीं है कि आज 21वीं सदी का समाज बड़ी तेजी से आधुनिकता की चपेट में आ रहा है। इस आधुनिकता की चपेट में आकर संयुक्त परिवार की अवधारणा तथा संवेदनाएं समाप्त होती जा रही हैं। बुजुर्ग पीढ़ी जो आदर तथा सम्मान की अधिकारी हैं यह उनकी विडंबना ही है कि वह निराश्रित और अकेले जीने को बाध्य होती जा रही है। वृद्धों को अपने परिवार और बच्चों के साथ समय बिताने से भावनात्मक सुख की प्राप्ति होती है। तथाकथित समाज की पारिवारिक व्यवस्था चाहे वह संयुक्त परिवार हो या एकल परिवार में बुजुर्गों की स्थिति तथा उनकी उपस्थिति पर यह उपन्यास प्रकाश डालता हुआ नजर आता है। प्रस्तुत उपन्यास में जहां दमयंती, प्रभुदयाल तथा कामिनी के माध्यम से परिवार व्यवस्था के तमाम कोणों को उजागर किया गया है तो वहीं आरण्या तथा ईशान के माध्यम से शेष बचे जीवन को चिंतामुक्त होकर समय के सरगम पर परिसरण करने के उत्साह को भी दिखाया गया है।

आज के बुजुर्गों को तमाम तरह की मानसिक प्रताड़नाएं झेलनी पड़ रही है। नई पीढ़ी के लिए वह घर के अनुपयोगी वस्तु मात्र हैं। परिवार के लिए बोझ से अधिक वह कुछ नहीं है। अपने ही घर में वह अवांछित जीवन जीने को बाध्य हैं। दमयंती खुद को अपने परिवार में मिसफिटपाती है। एक कुशल गृहिणी, पत्नी और माँ होने पर भी अपने पति की मृत्यु के बाद बेटों द्वारा उपेक्षित होती रहती हैं। आरण्या से अपना दुःख बयान करती हुई वह कहती है- “मैं तुम्हारी तरह अकेली होती तो क्यों परेशान होती। बच्चे साथ रह रहे हैं। मेरे घर में-मेरा किचन चल रहा है। खर्चा मैं कर रही हूँ। और मैं अपने कमरे में अकेली पड़ी रहती हूँ। बिना मेरी इजाजत मेरा सामान इधर से उधर करते हैं।.....मुझे इस कमरे से निकलने की इजाजत नहीं ! मैं ड्राइंग रूम में अपने मेहमानों को नहीं बिठा सकती।”² उपन्यास के अन्य वृद्ध पात्र प्रभुदयाल अपने जीवन से थोड़े से ‘स्पेस’ की कामना करते हैं पर उनकी नियति उन्हें मौत की ओर ले जाती है। भले ही प्रभुदयाल आर्थिक रूप से संपन्न हैं पर उन्हें अपने बच्चों द्वारा किये गए दुर्व्यवहार को भुगतना पड़ता है- “इसके पहले कि प्रभुदयाल गले में लटकती ताली को छुएँ, लड़के ने सूत से पिरोई ताली गले से उतार ली। बाप का इससे बड़ा अपमान भी क्या हो सकता है?”³

कामिनी इस उपन्यास की एक ऐसी बुजुर्ग पात्र है जो अपने भाई और परिवार द्वारा छली जाती है। आर्थिक रूप से सबल कामिनी अपने परिवार की स्वार्थपरता और लालच के बीच खुद को बहुत अकेला पाती है। उपन्यास में पारिवारिक और नैतिक मूल्यों का पूर्ण रूप से पतन होते दिखाया गया है। कामिनी से उसका भाई इलाज के नाम पर खूब पैसे ऐंठता है और अंत में उसे धोखा दे उसके घर को बेचने का षड्यंत्र भी रचता है। सभ्यता की आड़ में मानव इतना असभ्य हो गया है कि उसके जीवन से मानों मानवीय मूल्य समाप्त हो चले हैं। आरण्या द्वारा कहा गया कथन इस बात की पुष्टि करता है- “व्यक्ति इसमें कैसे समाएगा? वह पनपेगा इसकी

बहार की प्रयोगशाला में। उसे जुटाना होगा अपने बल-बूते पर। भ्रम है कि भरोसा। लगता है धीरे-धीरे पुराने समय वाले परिवर्तन नए में घुल-मिल जाएंगे और नए पुराने पड़ते जाएंगे। सुविधाओं के सच बड़े होते जाएंगे और संबंधों के विश्वास सिकुड़ते जाएंगे।”⁴

वृद्धत्व एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति को मानसिक एवं शारीरिक परिवर्तन झेलने पड़ते हैं जो उसके व्यवहार को भी प्रभावित करता है। यह एक शांत बेला होती है। वृद्धावस्था की यह बेला वृद्ध होते व्यक्ति के साथ-ही-साथ उसके परिवार के सदस्यों को भी प्रभावित करती है। इससे संबंधित रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास ‘पत्थर ऊपर पानी’ को पढ़ा जा सकता है। इस उपन्यास में केवल वृद्धावस्था की ही नहीं अपितु मानव जीवन की सभी अवस्थाओं का चित्रण विभिन्न पात्रों के माध्यम से किया गया है। वृद्ध पात्र के रूप में उल्लेखित उपन्यास में प्रोफ़ेसर चंद्रा के पिता रामचंद्र एवं सीता देवी सामने आते हैं।

दो पुत्रों की मां सीता देवी के जीवन की यह विडंबना है कि वह अपने ही पुत्र के मार्फ़त से जानकर सड़क पर छोड़ दी जाती है। जब प्रोफ़ेसर चंद्रा द्वारा उनके बेटों को ढूँढ़ उन्हें घर पहुँचाए जाने की बात कही जाती है तब सीता देवी मन ही मन इस हकीकत को बयान कर देती है कि— “उनका बेटा नहीं खोया था-बेटे ने अपनी माँ को खो दिया था। हरीश जब छोटा था, तब भी यही करता था। जो चीज उसे अच्छी नहीं लगती थी, उसे वह खो देता था।”⁵ यह सोचकर वह बहुत दुःखी होती है कि वह आज अपने पुत्रों के लिए किसी अनचाही बोझ की तरह हो गई है जिसकी जिम्मेदारी कोई लेना नहीं चाह रहा। आज के समाज का यह कटु यथार्थ है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ में इतना लीन होता जा रहा है कि उसे अपने ही बुजुर्ग माँ-बाप उसकी स्वार्थसिद्धि में बाधक नजर आने लगे हैं। प्रत्येक तीन वर्षों से सीता देवी अपने दोनों पुत्रों के घर प्रत्येक एक-एक महीने आती

जाती रही हैं। उनका जब तक एक पुत्र के घर में मन रमता तब तक उन्हें दूसरे पुत्र के घर जाना पड़ जाता था। अपना यह प्रत्येक माह स्थानांतरण उन्हें पसंद नहीं था क्योंकि उन्हें पता था कि – “जिस तरह उनकी साँस के घरे में उनके बेटे हैं, उनके बेटों की साँस के घरे में वे नहीं हैं। बेटों की साँसों के घरे में उनकी पत्नियाँ और बच्चे थे, जो एक घोंसलें में खाते-पीते और उछलते-कूदते थे। उन्हें अम्मां तक आने के लिए एक पुल बनाना पड़ता है।”⁶

कैसी सामाजिक विडंबना है कि माँ की बीमारी में बेटे उन्हें लखनऊ तो ले आए और उनका हरदोई का मकान भी बेच दिया। पर अपनी माँ के लिए उनके घर में कोई जगह नहीं रही। सीता देवी अपने बेटों के घर में अपना घर ढूँढ़ती हैं लेकिन वह इस कोशिश में सफल नहीं हो पाती। वह इस प्रयास में बार-बार अपने स्वाभिमान को तार-तार होती पाती है। वह सोचती है कि – “क्या मैं इस उम्र में तैरना सीखने के बहाने तालाब में डूब सकती हूँ?”⁷

वृद्ध होता शरीर अपमान, बेबसी, घुटन व पारिवारिक अवहेलना का शिकार होता जाता है। वह जानकर किसी पर निर्भर होना नहीं चाहता, पर उसके क्षीण होते शरीर को अपनों के सहारे की आवश्यकता पड़ती है और यही आवश्यकता उसे अवहेलना का शिकार बना देती है। सीता देवी इस अवहेलना से पीड़ित है। उन्होंने रामचंद्र को बताया था कि— “दोनों बेटों के घरों की स्वामिनी बहुएं हैं और उन्हें रोज सुबह उनसे आधा नींबू माँगना पड़ता है क्योंकि उन्हें फ्रिज बंद करना नहीं आता। जब कभी कोई बहू उनसे मटर छीलने या रोटी बनाने को कहती है, तो उन्हें लगता है कि नौकरानी से कुछ कहा जा रहा है।”⁸

एक माँ जो अपना पूरा जीवन अपने बच्चों की देखभाल में निकाल देती है, लेकिन उसके जीवन के अंतिम पड़ाव में उसके बेटे भी उसका साथ नहीं निभाते। कितनी संवेदनशून्यता है कि एक माँ अपने ही बेटे द्वारा भुला दी जा रही है।

वह अपने ही बेटे के घर में प्रतिपल अपमानित व उपेक्षित जीवन जी रही है। इसलिए अंत में सीता देवी अयोध्या जाकर आश्रम में अपना जीवनयापन करने लगती हैं।

इसी उपन्यास का एक अन्य पात्र विधुर रामचंद्र हैं। अपनी पत्नी के निधन के बाद वह खुद को बहुत अकेला महसूस करते हैं। हालांकि वह संयुक्त परिवार में अर्थात् अपने बेटे प्रोफ़ेसर चंद्रा, बहू गायत्री व पोते नन्दू के साथ रहते हैं फिर भी उन्हें अपने जीवन में खालीपन का अनुभव होता है। जीवन की सांध्य बेला में अपने जीवनसाथी की कमी सबसे अधिक खलती है। रामचंद्र के जीवन में भी यह खालीपन मौजूद था –“शांति घर में न रही तो घर अकेला हो गया। अब रामचंद्र की दिनचर्या अकेली थी। उठाना अकेला था, चाय अकेली थी, घूमना अकेला था, खाना अकेला था, कहीं जाना अकेला था, कहीं से लौटकर आना अकेला था। सोना अकेला था, जागना अकेला था।”⁹

रामचंद्र पुराने ख्यालातों में जीवनयापन करने वाले व्यक्ति नहीं थे। वह आधुनिक समाज के साथ अपनी सोच को भी आधुनिक रखते थे। अपनी पत्नी के जाने के बाद जो अकेलापन उन्हें महसूस होता था उसे दूर करने का माध्यम उन्हें सीता देवी से मिलने के बाद नजर आया। इसलिए सीता देवी से वह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं –“हम शादी कर लें।”¹⁰ रामचंद्र की बात पर सीता देवी बेटे व समाज की सोच का हवाला देती है। तो वही व्यावहारिक सोच रखने वाले रामचंद्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सीता देवी अपने बेटों से कह दें कि –“अब तुम्हें मुझे पेट्रोल-पंप पर छोड़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी।”¹¹ पर रामचंद्र का अपने अकेलेपन को भरने का सपना सीता देवी के पुरातन सोच के कारण सपना ही रह जाता है।

कैसी नियति है कि जहाँ संतान को अपने माता-पिता को एकाकी जीवन जीते देखना पसंद आता है तो वही उन्हें अपने हमउम्र व्यक्ति के साथ दोबारा जीवन शुरू करना खटकता है। अपने पिता के विवाह की बात से प्रो. चंद्रा परेशान होकर यह

सोचते हैं कि इस उम्र में विवाह करना कैसा लगेगा। तो वही जब प्रो. चंद्रा अपने पिता से सीता देवी के अयोध्या गमन की बात बताते हैं तो रामचंद्र सोचते हैं –“क्यों ! तुम तो अपने सौर-मंडल में ज्यादा सुरक्षित महसूस कर रहे होगे। मैं जानता हूँ, तुम्हारे सौर-मंडल में गायत्री और नन्दू आते हैं, मैं नहीं आता। कौन जाने, तुमने यहाँ तक सोच डाला हो कि मैंने अगर सीता देवी से विवाह किया और कोई सन्तान हो गयी, तो इस कोठी में उसका भी हिस्सा होगा?”¹² वृद्धावस्था में अकेलापन एक ऐसी पीड़ा बन जाती है, जिसे व्यक्ति अपनी अंतिम नियति मृत्यु तक ढोता चलता है। अपने इसे अकेलेपन में अंततः रामचंद्र भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वृद्धत्व मानो वृद्धों के लिए अभिशाप बनता जा रहा है। पारिवारिक सुख की तलाश में जूझता वृद्ध अपने जीवन को त्याग देता है। अपने बुजुर्ग की संपत्ति हथियाने के लिए उनपर तमाम तरह के शोषण किए जा रहे हैं। उनके प्रति असहनीय व्यवहार होता दिखाई पड़ रहा है। इसी प्रकार के व्यवहार का चित्रण हमें चित्रामुद्गल द्वारा सृजित उपन्यास ‘गिलिगडु’ में नजर आता है। इस उपन्यास में वृद्ध कथा नायक जसवंत सिंह और कर्नल स्वामी हैं। यह उपन्यास तेरह दिन अर्थात् तेरहवीं गैरमौजूदगी की कथा का व्याख्यान है। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद जसवंत सिंह अपने बेटे के पास कानपुर से दिल्ली आ जाते हैं। नरेंद्र अपने पिता के रहने की व्यवस्था बालकनी में स्लाइडिंग लगा करता है लेकिन कमरे में जसवंत सिंह को बहुत ही अकेलापन और बेचारगी का अनुभव करते हैं।

लेखिका आज के भूमंडलीकरण के दौर में युवा पीढ़ी के स्वार्थी होने पर करारा व्यंग करती है। बहू सुनयना को अपने ससुर का अपमानित होना पसंद है पर अपने कुत्ते टॉमी का नहीं। वह टीवी पर अपने ससुर के पसंद का चैनल नहीं बल्कि टॉमी के पसंद का चैनल चलाने की आग्रही है। बहू तो बहू बेटे के नजर में भी पिता का कोई मूल्य नहीं रह गया है। जिस संतान के लिए माता-पिता

अपना पूरा जीवन न्योछावर कर देते हैं वही संतान उनके प्रति संवेदनहीन होती जाती है। जसवंत सिंह अपनी व्यथा का व्याख्यान करते हुए खुद कहते हैं—“नरेंद्र की नजर भी उनकी चप्पलों पर पड़ती होगी। यह भी जानता है कि टॉमी जैसे उत्पाती के साथ टहलना कम जोखिम-भरा नहीं। जूते दिलाने की सुध नहीं आई उसे ? आती तो क्या वे पांव की बड़ी हड्डी की टीस ओढ़े बैठे रहते!”¹³

बुढ़ापा कई प्रकार की स्वास्थ्य संबंधी समस्या लेकर आता है। जसवंत सिंह भी अपने बवासीर की समस्या से परेशान है। उन्हें मस्सों पर दवाई लगानी होती थी। एक दिन दवा लगाते वक्त गलती से जसवंत सिंह से खिड़की खुली रह गई थी, जिससे पड़ोसन की लड़की ने उन्हें देख लिया। जिसका गलत अर्थ निकाल पड़ोसन ने सुनयना से शिकायत कर दी। बहू सुनयना ने अपने ससुर की मजबूरी का ख्याल न किया, उन्हें सीधे दोषी करार कर दिया तथा तमाम तरह की कठोर बातें भी सुनाई—“आखिर बाबूजी इस संभ्रांत सोसाइटी में उनकी इज्जत खाक में मिलाने पर क्यों उतारू हैं? अपनी उम्र का लिहाज किया होता। अभी भी जवानी का जोश बाकी हो तो दिक्कत कैसी ? चलें जाया करें रेड लाइट एरिया। कौन पेंशन कम मिलती है उन्हें जो उनकी मौजमस्ती में हाथ बंधे हों ? कम से कम अड़ोस-पड़ोस की किशोरियों पर तो नजर न डालें। मुंह दिखाने लायक रखें उन्हें सोसाइटी में।”¹⁴ “निरपराध जसवंत सिंह रात भर फूट-फूट कर रोते रहें तथा ईश्वर से अपनी मृत्यु की भीख मांगते रहें। इस घटना के बाद बहू सुनयना उनके छींक, डकार, पाद इत्यादि हर बात पर उन्हें अपमानित करती नजर आती है। अपने बच्चों से इतना प्रताड़ित होने के बाद आखिरी में जसवंत सिंह उन्हें अपनी वसीयत से बेदखल करने का निर्णय लेते हैं—“सुनगुनियां से वे कहकर जाएंगे और उसे अपनी वसीयत में स्पष्ट लिखवा भी देंगे कि सुनगुनियां का पुत्र रामरतन, न अभिषेक आसरे ही उनकी कपाल क्रिया करे। उसे ही वह अपने दाह-संस्कार का अधिकार दे रहे हैं।”¹⁵

यह उपन्यास अपने अंदर तमाम तरह के पहलुओं को समेटे हुए है। इसमें परिवार, समाज के हर पक्ष

को दिखाया गया है। इस उपन्यास में संभावनाएं भी व्यक्त हुई हैं। अजीब विडंबना है कि बेटे अपने बाप को कोई तब्ज्जो नहीं देते, जिस सम्मान का बुजुर्ग वर्ग अधिकारी है वह उसे नहीं मिल पाता। इस सम्मान के एवज में उन्हें अपने बेटे-बहुओं द्वारा किया गया दुष्कर्म झेलना पड़ता है।

इसी क्रम में रमेशचंद्र शाह द्वारा रचित ‘सफेद परदे पर’ उपन्यास एक नए आयाम, पहलू के साथ पाठक के सामने उभरता है। उपन्यास का शीर्षक हमें अपनी ओर आकर्षित करता है। ‘सफेद परदे पर’ शीर्षक शांति का प्रतीक है। व्यक्ति अपने जीवन में तमाम तरह के अनुभवों, आपाधापी से गुजरकर एक समय ऐसी अवस्था पर पहुंचता है जहां उसे शांति की आवश्यकता होती है। इस उपन्यास में ऐसी ही अवस्था अर्थात् वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने की इच्छा को दिखाया गया है। इस उपन्यास का लेखकीय नायक 65 वर्षीय है जो वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करना चाहता है। पत्नी की मृत्यु के बाद वह अपने भरे पूरे परिवार अर्थात् बेटे, बहू और पौत्र से दूर जाकर अपने ही एक दूसरे फ्लैट में एकांतवास अर्थात् वानप्रस्थ जीवन जीना चाहता है। लेखक भौतिक रूप से संपन्न है पर वह अपने मन को स्थिर नहीं कर पाता इसलिए उसे सारी सुख-सुविधाएं व्यर्थ जान पड़ती है।

कथा नायक जब वानप्रस्थ जीवन जीने का फैसला करता है तो उसके इस फैसले का विरोध भी होता है। ऐसा नहीं है कि वह अपने बेटे बहू या बेटे से तंग आकर वानप्रस्थ जीने का फैसला लेता है। उसके बेटे-बहू तथा बेटे संस्कारी तथा अपने पिता का सम्मान करने वाली पीढ़ी है। लेखक का वानप्रस्थ लेने का कारण केवल उनका यह डर है कि कहीं उन्हें अपने सुविधाओं या दिनचर्या से समझौता न करना पड़े—“अब जैसे मुझे बचपन से ही यह आदत, या कि जिद रही है कि जिस प्याले में मैं चाय पिऊँ, जिस गिलास में पानी पिऊँ, उसका इस्तेमाल कोई और न करे, सिर्फ मैं ही करूँ। अब इसमें किसी का भला क्या नुकसान है, बताओ?कितनी बार समझा दिया कि भई, मेरी चीज़ों को हाथ मत लगाया करो। मगर कोई सुने तब न? मेरी पत्नी के रहते हमारे

शोधार्थी की कलम से

घर में ऐसी अराजकता तो नहीं थी। कम से कम मेरी चीजें तो अपनी जगह पर रहती ही थीं। अब तो लगता है, सब कुछ सब जगह है और कुछ भी अपनी जगह नहीं।”¹⁶

कथानायक की पत्नी की मृत्यु उसके मानसिक पटल पर गहरा आघात करती है। जब उन्हें अपनी पत्नी की सबसे अधिक आवश्यकता होती है तब वह ईश्वर को प्यारी हो जाती है। पत्नी की मृत्यु तथा उससे दूर होने का दर्द स्वयं लेखक के शब्दों में झलकता है—“किसी को क्या फर्क पड़ता है मेरी खीझ से? उसको पड़ता था। उसके लिए मेरी झुंझलाहट भी कोई मतलब रखती थी। वो मतलब उसी के साथ चला गया। अब मैं अपने सिवा और किस पर झुंझलाऊँ?”¹⁷

सवाल यह उठता है कि वानप्रस्थ जीने का फैसला लेना जितना आसान है क्या उसे जी पाना उतना ही संभव हो पाता है? लेखक जहां एक ओर वानप्रस्थ जीने का फैसला करता है तो वहीं दूसरी ओर कहता है—“अभी दो साल पहले ही तो कितने चाव से अपने इकलौते बेटे की शादी की थी मैंने! और प्यारे पोते को खिलाते अभी मुश्किल से साल-भर गुजरा होगा। अब कौन उसे खिला रहा होगा? मेरे तो प्राण ही अपने पोते में बसे थे- भगवान जानता है। अरे, भगवान भी क्या जानेगा, माँ-बाप तक नहीं जान सकते, दादा होना क्या होता है!”¹⁸

तमाम तरह की जद्दोजहद से घिरा लेखक अंततः अपने वानप्रस्थ जीने के फैसले का त्याग कर कुछ समय के लिए अपनी बेटी के घर शिमला जाने का निश्चय करता है—“हाँ, मेरी वानप्रस्थ लेने की बात उसे भी उतनी ही बेहूदा, उतनी ही अनर्गल लगती है, जितनी तुम्हें लगी थी। कुल मिलाकर मैं इस कदर चारों तरफ से घेर लिया गया हूँ कि फिलहाल अब आत्मसमर्पण कर देने के सिवा कोई चारा नहीं।”¹⁹

कहना न होगा कि इन उपन्यासों से गुजरते हुए हमारे समक्ष वार्धक्य जीवन के कई पहलू आते हैं जो हमें वृद्ध जीवन की सामाजिक, मानसिक स्थितियों से अवगत करते हैं। उनकी स्थितियों का परत-दर-परत हमारे सामने सजीव चित्रण उकेरते

हैं। ये वृद्ध जीवन के अकेलेपन की विडंबना को भली-भांति व्याख्यायित करते हैं। परिवार में रहकर भी एक वृद्ध किस प्रकार खुद को अकेला महसूस करता है यह विचारणीय है। वह जिन बच्चों को योग्य बनाता है उन्हीं बच्चों से वह अपनी जीवन की सांध्यबेला में कटा हुआ अनुभव करता है। वृद्ध जीवन से संबंधित तमाम समस्याओं, संदर्भों और विडंबनाओं को उपर्युक्त चयनित उपन्यासों में अत्यंत प्रभावशाली ढंग से उकेरने में चारों कथाकार समर्थ हैं।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. प्रसाद, कलिका, सहाय, राजवल्लभ, श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल, बृहत हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रण, मई 2018, पृष्ठ-1043
2. सोबती, कृष्णा, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 2019, पृष्ठ-74
3. यथोपरि, पृष्ठ-110
4. यथोपरि, पृष्ठ-92
5. वर्मा, रवीन्द्र, पत्थर ऊपर पानी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2003, पृष्ठ-12
6. यथोपरि, पृष्ठ- 13
7. यथोपरि, पृष्ठ- 12
8. यथोपरि, पृष्ठ- 16
9. यथोपरि, पृष्ठ- 22
10. यथोपरि, पृष्ठ- 25
11. यथोपरि, पृष्ठ- 26
12. यथोपरि, पृष्ठ- 34
13. मुद्गल, चित्रा, गिलिगडु, सामयिक पेपरबैक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृष्ठ-19
14. यथोपरि, पृष्ठ- 59
15. यथोपरि, पृष्ठ- 144
16. शाह, रमेशचन्द्र, सफेद परदे पर, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2011, पृष्ठ-10
17. यथोपरि, पृष्ठ- 10
18. यथोपरि, पृष्ठ-06
19. यथोपरि, पृष्ठ-122

संपर्क : पश्चिम बंगाल राज्य विश्वविद्यालय बारासात, कोलकाता-700126, मो. 9804389127

हिन्दी निबंध-साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर

-घुंघरू परमार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लेखन संसार अत्यंत ही विस्तृत है। जिसमें उनके निबंध का महत्वपूर्ण स्थान है, भारतीय नवजागरण एवं वैचारिक रूप से सुदृढ़ मौलिकता के साथ उन्होंने अपने निबंधों में जिस प्रकार भारतीय परंपरा, में प्रचलित मान्यताओं एवं अवधारणाओं का खंडन-मंडन किया है, वह आज भी प्रांसगिक है। जहाँ एक ओर उनके निबंध भारतीय संस्कृति की उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी के इतिहास और नवजागरण को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं वहीं दूसरी ओर देश-विदेशों में भी बौद्धिक विचार-विमर्शों में उनके विचार बौद्धिक-मार्ग को प्रकाश भी दिखाते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निबंधों की मौलिकता और वर्ण्य-विषयों ने पाठकों को काफी समृद्ध किया। उनके पौराणिक निबंधों में भी आधुनिकता है। चाहे कोई पौराणिक पात्र हो या सामाजिक संदर्भ, परंपरा हो या कोई प्रचलित लोक मान्यता, उनके विचारों में कोई जड़ता नहीं दिखाई पड़ती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐतिहासिक उपेक्षित स्त्री पात्रों को भी अपने निबंध का विषय बनाया है। उनके उस समय के निबंध भी स्त्री-समानता और स्त्री-शिक्षा की बात करते हैं।

ठाकुर ने इतने सारे निबंध लिखे हैं कि उन्हें काल या विषय-वैविध्य में नहीं बाँधा जा सकता है। उनके द्वारा रचित निबंधों का विभाजन हम दो श्रेणियों में कर सकते हैं—

क) रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित निबंधों से प्रेरित होकर हिन्दी निबंधकारों द्वारा उनके निबंधों का भाव या वैचारिक विषय-वस्तु ग्रहण कर निबंध लिखना।

ख) रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरित होकर उनके समकालीन या पूर्वोत्तर हिन्दी साहित्यकारों द्वारा उन्हीं के ऊपर निबंध लिखना।

इस आलेख में हम रवींद्र बाबू द्वारा लिखित निबंधों के वैचारिकप्रभाव और प्रवाह को हिन्दी लेखकों के विचारों में भी देखेंगे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक प्रसिद्ध निबंध है – ‘काव्येउपेक्षिता’। “इस संक्षिप्त लेकिन विचार-दीप्त लेख में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संस्कृत साहित्य के विशिष्ट रचनाकारों द्वारा उन महत्वपूर्ण स्त्री-पत्रिकाओं की उपेक्षा एवं उदासीनता भरे रवैये का उल्लेख किया है, जिससे साहित्य जगत में पर्याप्त हलचल हुई।”

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अत्यंत ही भावुकता और सहृदयता से उर्मिला की वेदना को समझा है। उन्होंने उर्मिला की नई-नवेली बहू के रूप और सौभाग्य सुख से लेकर राम-लक्ष्मण के वन-गमन और अयोध्या वापसी के समय का अनुमान उर्मिला की मनःस्थिति से मालूम करना चाहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऋषि कवि, क्रॉच-विरहिणी पर भी संशय का चिह्न लगाते हैं कि जिनका ध्यान क्रॉच के वैधव्य दुःख को देखकर इतना आहत हो गया, उनका ध्यान भी विरहिणी उर्मिला की ओर एक पल के लिए भी न गया। भवभूति के काव्य में भी उन्होंने उर्मिला का बस एक चित्र भर प्रस्तुत किया है।

शोधार्थी की कलम से

सबने बस राम की, सीता की गौरव-गाथा का गान किया। भाई लक्ष्मण का प्रेम देखा, परंतु उर्वशी का आत्मोत्सर्ग किसी को नहीं दिखा। विरहिणी ने अपने यौवन के चौदह वर्ष, नव-वधू के चौदह वर्ष चुपचाप पति की राह में बाधा न आए, इसलिए मौन रहकर धूलि शय्या में न जाने किस प्रकार काटे, किसी को आभास तक नहीं हुआ।

“संस्कृत-काव्य की और दो तपस्विनियाँ हमारे हृदय-क्षेत्र में तपोवन बनाकर रहती हैं “प्रियंवदा और अनसूया।”

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उर्वशी को ही नहीं, पौराणिक उपेक्षित नारी पात्रों में से प्रियंवदा, अनसूया, शकुंतला और कादंबरी की चित्रलेखा को भी पाठकों के सामने लाया है। ये सारी स्त्री उपेक्षिता पात्र हैं, जिन्हें समाज ने या पुरुषों ने अपने प्रेम में समान दर्जा नहीं दिया। यहाँ तक इन चरित्रों के लेखकों ने भी पात्रों के साथ उचित न्याय नहीं किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कोशिश व्यर्थ नहीं गई। जिन उपेक्षित पात्रों को वे पाठक और समाज के समक्ष लाना चाहते थे, वे पात्र आए। उनके इस कार्य को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी रवि बाबू के इस निबंध से प्रेरणा पाकर ‘कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता’ निबंध लिखा।

द्विवेदी जी ने रवि बाबू के निबंध की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए यही सवाल अपने निबंध में उठाया है। इसका असर हिंदी साहित्य में ऐसा हुआ कि मैथिलीशरण गुप्त ने तो उपेक्षिता उर्मिला को लेकर ‘साकेत’ महाकाव्य रच डाला। पीछे रवीन्द्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए जिस भावात्मक गद्य का चलन हुआ, वह विशेष अलंकृत होकर अन्येक्तिपद्धति पर चला।”

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने निबंध में उपेक्षिता उर्मिला के लिए वही प्रश्न उठाए जो रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उठाए थे। यह उनका भाग्यदोष

ही था कि उर्मिला को पति वियोग के संग अपनी प्राण-प्यारी बहन का वियोग और दुख भी सहन करना पड़ा।

मैथिलीशरण गुप्त रामभक्त कवि थे। आधुनिक युग में ‘रामचरितमानस’ के बाद गुप्त जी द्वारा रचित ‘साकेत’ ही रामकाव्य-परंपरा का महाकाव्य साबित हुआ। इसमें भारतीय जीवन की समग्रता को उचित ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है—“द्विवेदी जी के आदेश और उपदेश तथा स्नेहमय प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप इनकी काव्य-कला में निखार आया।”

आचार्य द्विवेदी को उर्मिला के प्रति कवियों की यह उदासीनता ठीक नहीं लगी। उनका मानना है कि जब आदिकवि इस उच्छृंखलता या उदासीनता के प्रभाव से बच नहीं पाए तो साधारण कवियों की क्या बात है।

टैगोर का एक निबंध है — ‘बसंत-यापन’ जिसमें ऋतु प्रेम, प्रकृति प्रेम का विस्तृत चित्रण है। उन्हें लगता है कि आदि युग में मनुष्य अवश्य ही कोई पेड़ था। उनका मानना है कि ‘अभिव्यक्ति के अंतिम कोष्ठ में आकर मनुष्य के अनेक भाग हो गए हैं। जड़-भाग, वनस्पति-भाग, पशु-भाग, बर्बर-भाग, सभ्य-भाग, देव-भाग इत्यादि।”

हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध ‘आम फिर बौरा गए’ में रवीन्द्रनाथ के इस निबंध की छाया या भाव देख सकते हैं। इस निबंध में आम या आम्र-मंजरी, बसंत ऋतु के आने का सूचक है। व्यक्ति के जीवन में ऋतु-चक्र, पेड़-पौधे और प्रकृति कितने महत्वपूर्ण हैं, इस ललित निबंध में विस्तार से उन्होंने लिखा है। द्विवेदी जी ने अपने निबंध में रवीन्द्रनाथ का भी एक प्रसंग चित्रित किया है। एक बार उन्होंने विनोद में ही अपने एक मित्र से कहा था कि उनकी उम्र में से एक साल कम कर दिया जाए, क्योंकि देश से बाहर रहने के कारण वे एक वर्ष आम्र फल का लुत्फ नहीं ले सके थे। इस कारण उनकी उम्र में एक वर्ष कम जोड़ा जाय।

रवीन्द्रनाथ के निबंध की तरह ही इनके निबंध में भी आर्य, देवता, किन्नर आदि आते हैं। रवीन्द्रनाथ का मानना है कि इन्सान को मशीन नहीं बनना चाहिए। उन्हें हरेक मौसम का आनंद उठाना चाहिए। प्रकृति से दूरी अच्छी बात नहीं है। इन्सान को उस हवा, मिट्टी, पानी को महसूस करना चाहिए। क्या फायदा ऐसे इन्सान होने का कि जब प्रकृति, ऋतु चारों ओर अपने रस-संचार करे और हम मनुष्य आँखें मूंदकर बैठे रहें। हम अपने हृदय-कपाट को बंद कर प्रकृति का सौंदर्य महसूस ही न कर सकें। यह स्थिति मनुष्य के लिए सही नहीं है—

“बसंत के दिन विरहिणी का मन हाहाकार करता है, यह बात हमने प्राचीन काव्यों में पढ़ा है।” रवीन्द्रनाथ ने यह बात जहाँ सीधे तरीके से कही है, वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध में बसंत ऋतु में विरह-वर्णन के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र के ‘औचित्य-विचार चर्चा’ से एक संदर्भ लिखते हुए कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के एक श्लोक का जिक्र भी किया है।

रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखित ‘तपोवन’ एक लंबा निबंध है। इस निबंध में अरण्य संस्कृति की महत्ता को दिखाया गया है। वैदिक ऋषियों के तप भगवान बुद्ध के आम्र वनों और वेणुवनों में उपदेश, और कालिदास की कालजयी कृतियों का महत्व ‘तपोवन’ निबंध में विस्तार से है।

रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—“जो लोग परिस्थितिबध् जंगलों में आबद्ध हो जाते हैं उनकी प्रवृत्तियाँ वन्य हो जाती हैं। या तो वे शेर की तरह हिंस्र हो जाते हैं, या हिरन की तरह भोले-भाले। लेकिन प्राचीन भारत में वन की विजनता ने मानवीय बुद्धि को पराजित नहीं किया।”

इस निबंध में बहुत सारी बातों पर विचार किया गया है। रवि बाबू इंद्रिय शिक्षा या ज्ञान की शिक्षा को सिर्फ महत्व नहीं देते हैं, वे ‘बोध शिक्षा’ को महत्व देते हैं।

ये सब प्रकृति से जुड़कर ही संभव है। यदि देश समृद्ध हुआ है और आगे भी इस समृद्धि को

बढ़ाना है तो ‘अरण्य संस्कृति’ अपनाना होगा। रवि बाबू का शांति निकेतन कमोबेश इसी सुदीर्घ चिंतन परंपरा का परिणाम है।

रवीन्द्रनाथ के अन्य निबंध हैं—‘नारी’ और ‘स्त्री शिक्षा’। उन्होंने कहानी, कविता में ही नहीं, निबंध में भी स्त्री मुक्ति के स्वर बुलंद किए हैं।

इन निबंधों में रवि बाबू ने स्त्री के स्वभाव, विचार और उनके जीवन में शिक्षा के महत्व पर विस्तृत चर्चा की है। रवि बाबू का मानना है कि प्रकृति ने नारी को प्रेम, स्नेह, कष्टा और वेदना की प्रवृत्ति दी है। मानव-संसार की रचना इन्हीं गुणों के कारण संभव हो पाई है। हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित ‘महिलाओं की लिखी कहानियाँ’ की आधार-भूमि लगभग यही है। इस निबंध में उन्होंने स्त्रियों की प्रकृति-प्रवृत्ति और नारी-मन की बात की है। द्विवेदी जी का मानना है कि स्त्री ने ही सभ्यता का आरंभ किया है। झोपड़ी, अग्नि-संरक्षण और कृषि का आरंभ भी उन्होंने ही किया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि स्त्री प्रकृति के नियमों से बँधी है। पुरुष निबन्ध था, स्त्री नियमों से बँधी होने के सुश्रृंखल थी। पुरुष का स्वभाव कौशल शत्रु या प्रतिद्वी को पछाड़ने में था तो स्त्री का स्त्रीत्व या स्वभाव, सहायता करना था।

रवीन्द्रनाथ अपने निबंध ‘नारी’ में सृष्टि की प्रक्रिया को अत्यंत ही गंभीरता से लेते हैं। समाज के बंधन यानी संतुलन का कार्य वे नारी को ही मानते हैं। नारी के स्वभाव में ही प्रकृति ने इस आदिप्राण का प्रवर्तन किया है। इसलिए मानव जाति के लिए नारी स्वभाव हमेशा रहस्यमय रहा है —“नारी के जीवन में संवेगों का उच्छ्वास जो अचानक दिखाई पड़ता है, तर्क से परे है।”

नारी जहाँ प्रेम और स्नेह की स्रोत है, पुरुष शक्ति प्रदर्शन करने में लिप्त रहता है। प्रेम और रहस्य को रवि बाबू दुर्गम मानते हैं। इसलिए प्रकृति ने नारी को माता का रूप दिया। संघर्ष, बुद्धि, संधान ये सब चीजें तो मनुष्य के जीवन में बाद में आती हैं। प्रेम और स्नेह प्राकृतिक होने के

कारण स्वतः मातृत्व और स्त्री के हृदय में आता है। पुरुष अपनी कीर्ति के लिए संघर्ष करता रहता है। पुरुष द्वारा रचित सभ्यता इस द्विधा में बनती-बिगड़ती रहती है। वह अपनी दुनिया बार-बार बनाने का प्रयत्न करता रहता है। ईश्वर ने उसके जीवन का पथ सुनिश्चित नहीं किया है। इसलिए वह स्वयं को खुद की दुनिया में आगंतुक के रूप में देखता है।

स्त्री-शिक्षा पर विमर्श करते हुए रवि बाबू लिखते हैं कि समाज में स्त्री-शिक्षा के मुद्दे पर दो श्रेणियों में लोग बँट गए हैं। एक वे हैं जो स्त्रियों के लिए शिक्षा को आवश्यक नहीं मानते। वे सोचते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों की सेवा नहीं करेंगी, घर-गृहस्थी नहीं देखेंगी। पुरुषों की सुविधा में भी असुविधा होंगी, उन्हें स्वामी नहीं मानेंगी।

दूसरा पक्ष है, जिसे लगता है कि स्त्री का शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। यदि स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी तो गृहस्थ-जीवन सुखमय नहीं होगा। अशिक्षित स्त्रियाँ बस मशीन बनकर रह जाएंगी, वे प्रेम, दुःख, सुख, आशा-आकांक्षा के भाव भी नहीं समझेंगी।

सत्य तो यह है — स्त्रियों के अपने जीवन की अलग सार्थकता है। उनके जीवन में शिक्षा का क्या और कितना महत्व है, यह कोई अन्य व्यक्ति निर्णय नहीं करेगा हमारे समाज में अब स्त्रियों का निरक्षर होना लज्जाजनक स्थिति है। गृहस्थी के भाव से किसी स्त्री का मूल्यांकन गलत है। उस शिक्षा का ही महत्व है जो सार्वभौमिक है। लेकिन “पुरुष ने स्त्री-शिक्षा का जो साँचा गढ़ा है, वह पुरुष के खेलने लायक गुड़िया गढ़ने का साँचा है।”

स्त्रियाँ स्वभाव से ही प्रेम करती हैं। माँ, स्त्री, पत्नी होना स्वभाविक और प्राकृतिक है। दासत्व होना या सहना यह उनका स्वभाव नहीं। धीरे-धीरे समाज ने स्त्रियों के इस स्वभाव को अनिवार्य मान लिया है। स्त्रियों का धर्म ही है — प्रेम करना। चाहे उसे किसी कारणवश प्रेम न हो

तब भी। यही स्त्रियों का आदर्श है, यही उसके स्त्रीत्व होने की पूर्णता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मानना है कि सभ्यता का यह कठोर वज्र हमेशा स्त्रियों पर ही पड़ा। रूढ़ि, आदर्श और आधुनिक स्त्री के द्वंद्व ने स्त्रियों की परेशानी बढ़ाई। परंतु वह भी पुरुषों की तरह स्वतंत्रता और महत्वाकांक्षा लेकर निकल पड़ी है। आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर वह भी एक नया और ऐसा समाज गढ़ना चाहती है जो स्त्री को भी बराबर का दर्जा दे। जो स्त्री की वैयक्तिकता का विरोध न करे। ऐसी शिक्षा जहाँ विशुद्ध ज्ञान और व्यवहार में भिन्नता न हो।

इस समाज में किंतु ऐसा नहीं है। स्त्रियों के स्वभाव प्रेम करना एवं एकनिष्ठ समर्पण को ही उनका आदर्श बनाया। यह सारी बातें उनके संस्कार और मन में प्रतिष्ठित कर गया। यह आदर्शमूलक बातें जहाँ स्त्रियों के दुख का कारण बनीं, वहीं इन बातों का फायदा उठाकर पुरुष, स्त्रियों पर अत्याचार करते रहे।

रवीन्द्रनाथ ने जिस नारी मन के स्वभाव और स्त्री-शिक्षा की बात की है, एक नए युग और सभ्यता का स्वप्न देखा है, उसी परंपरा को हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने निबंध में थोड़ा आगे बढ़ाया है। अज्ञान की जड़ता से बाहर निकलकर एक नवीन युग का निर्माण ही समाज को स्वस्थ बनाएगा। फल-लाभ की कामना से बेहतर योग्यता लाभ उन्होंने माना।

रवीन्द्रनाथ का एक दीर्घ निबंध है — ‘साहित्य का तात्पर्य’। इस निबंध में उन्होंने भाषा, अभिव्यक्ति, साहित्य, साहित्य के तात्पर्य, उद्देश्य पर विस्तृत चर्चा की है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी साहित्य को केंद्र में रखकर साहित्य के लिए कई निबंध लिखे। जैसे—‘साहित्य का नया कदम’, ‘मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य’, ‘साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती हैं’, ‘साहित्य का महत्व’ आदि। इन निबंधों में हम द्विवेदी जी के विचार जान सकेंगे।

‘साहित्य का उद्देश्य’ प्रेमचंद का निबंध है। जो उनका प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के पद से दिया गया भाषण का रूप है।

हम इन निबंधों में इन लेखकों के विचार और चिंतन को देखेंगे जो इन्होंने साहित्य और साहित्य की समस्याओं, उद्देश्य, तात्पर्य को केंद्र में रखकर लिखा है।

रवीन्द्रनाथ का मानना है कि भाषा की अभिव्यक्ति का जो माध्यम है, वही साहित्य है। पशु-पक्षियों की भी एक भाषा है, भाव-भंगिमा का संकेत, अनेक प्रकार की ध्वनियों में वे बात करते हैं। अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हैं। परंतु मनुष्य ने भाषा की खोज की। अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए “मनुष्य ने भाषा में लगाया छंद, लगाया सुर, व्यक्तिगत वेदना को दिया विश्वजनीन रूप। उसने अपने अच्छे-बुरे लगनेवाले जगत को समस्त मनुष्यों के लिए अंतरंग साहित्य का जगत बना दिया।”

रवीन्द्रनाथ ने साहित्य का सहज अर्थ लिया है ‘सम्मिलन’। यानी इन्सान अलग-अलग उद्देश्य के लिए एक-दूसरे से मिलते हैं। या मनुष्य साहित्य के उद्देश्य से मिलता है। उनका मानना है, मनुष्य उसी से मिलना, बात करना चाहता है जो संबंध मन को प्रसन्नता दे। भाषा के क्षेत्र में साहित्य का यही कार्य है, हृदय या मन का योग कराना।

मनुष्य ने प्रकृति से कितना प्रेम किया। इस संसार में कितना श्रम किया। इसका हिसाब नहीं किया जा सकता है। परंतु इस बात को अभिव्यक्त साहित्य द्वारा, कवि या शिल्पी द्वारा किया जा सकता है। हृदय इन चीजों को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त है। साहित्य का स्थान मनुष्य के हृदय में चिरकाल से ही है। लेकिन रचनात्मकता को रवीन्द्र ने साहित्य में अत्यधिक महत्व दिया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध में इन बातों का विस्तार और अपने पक्ष रखे हैं। उनका मानना है कि सौंदर्य, सामंजस्य में होता है। इन्सानों में जो विकास हुआ है, वह अपने-आप होता गया है। मनुष्येतर जगत की बात करते हुए वे लिखते हैं कि उनमें अपनी इच्छाओं को रूप देने का सामर्थ्य नहीं था परंतु मनुष्य में अपनी इच्छाओं को रूप देने का सामर्थ्य और गुण है — “यही एक ऐसी बात है, जिसने मनुष्य को

संसार का अप्रतिद्वंद्वी जीव बना दिया है।” यह शक्ति भाषा है, साहित्य है।

आचार्य द्विवेदी सौंदर्य को सामंजस्य में ही मानते हैं। उन्होंने अनेक उदाहरण और प्रसंग लिखकर ये बातें बतलाई हैं। साहित्य संतुलन में है, भाषा में है। सीधे-सीधे कोई बात कहना और अच्छे ढंग से वही बातें कहना ही साहित्य में भले-बुरे का फर्क ज्ञात कराता है।

द्विवेदी जी दान-पुण्य के बारे में कहते हैं कि दान-पुण्य बुरा नहीं है। लेकिन, दान-पुण्य कब, किसे करना चाहिए यह बातें विद्वान या मनीषी ही बता सकते हैं। जिसके पास पैसा, समय, धन होगा वही तो दान कर सकेगा। साहित्य में इसी प्रकार के चिंतन हैं। साहित्य ही मनुष्य को समझ सकती है। सभी मनुष्य, साहित्य के श्रेष्ठ रूप को नहीं समझ सकते हैं।

द्विवेदी जी छंद को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने रवीन्द्रनाथ का अपने इस निबंध में जिक्र करते हुए लिखा भी है कि रवीन्द्रनाथ ने छंद के महत्व पर कविता भी लिखी है।

प्रेमचंद अपने निबंध ‘साहित्य का उद्देश्य’ में भाषा को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। उनका मानना है कि जो कुछ लिखा जा चुका है, वही साहित्य है। लेकिन साहित्य में सच्चाई होनी चाहिए। पहले लोग ‘बैतालपचीसी’ जैसी रचना को ही साहित्य मान बैठे थे। लेकिन बोलचाल की भाषा से लेखन तक के सफर में साहित्य ने प्रगति कर ली थी। प्रेमचंद के अनुसार, “जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुंदर हो, और जिसमें दिल-दिमाग पर असर डालने का गुण हो, और साहित्य में वह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है।”

साहित्य की परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने अपने-अपने हिसाब से दी है। लेकिन प्रेमचंद के अनुसार साहित्य का अर्थ ‘जीवन की आलोचना’ है। चाहे वह साहित्य के किसी भी विधा में की गई हो। साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं होना चाहिए। तिलिस्मी कहानी और अजायब किस्सों तक साहित्य की यात्रा नहीं। साहित्य की वैयक्तिक यात्रा भी नहीं है। कवियों पर जिस

शोधार्थी की कलम से

प्रकार से व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा है, प्रेमचंद को यह पसंद नहीं।

साहित्य का उद्देश्य केवल प्रेम, सौंदर्य, वासना या श्रृंगार भर सीमित नहीं है। साहित्य, भाव संबंध की आवश्यकता को समझने वाली वस्तु है। मुंशी जी भी रवीन्द्रनाथ की तरह ही भाव को साहित्य में महत्व देते हैं। प्रत्येक साहित्य अपने काल का एक चित्र होता है, जिसमें उसके सही विचार और भाव सामने आते हैं।

रवीन्द्रनाथ के अन्य निबंध हैं — 'काव्य का तात्पर्य', 'काव्य और छंद' आदि। इन निबंधों में उन्होंने काव्य के महत्व, तत्व, सौंदर्य पर लिखा है। काव्य सौंदर्य, नीति, तत्व आदि का सृजन करता है यदि सृजनात्मक शक्ति पाठक को प्रेरित कर दे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध है — 'काव्य कला' जो 'अशोक के फूल' निबंध-संग्रह में संग्रहित है। इसमें उन्होंने आचार्यों के उक्ति-वैचित्र्य, रस, गुण, छंद आदि पर विस्तृत रूप से अपनी बात रखी है।

इन निबंधों में हमने देखा कि रवीन्द्रनाथ के द्वारा लिखे गए निबंध और उनके विषय-वस्तु तथा अन्य निबंधकारों के द्वारा लिखे गए निबंध और उनके विषय-वस्तु और वैचारिक साम्यता किस प्रकार एक-दूसरे के प्रभाव में हैं। रवींद्र बाबू के विचार से उनके प्रभाव में आनेवाले हिन्दी निबंधकारों ने किस तरह उनकी वैचारिक परंपरा को आगे बढ़ाया, जहाँ पाठक, चिंतक, विचारक, वैचारिक गति और मुक्ति पा सकें।

संदर्भ ग्रंथ : साहा, रणजीत (2015) : रवीन्द्र मनीषा, कोलकाता, साहित्य अकादमी, ISBN : 978-81-260-4766-6, पृष्ठ संख्या – 422

चौधुरी, इन्द्र नाथ (2013), काव्य की उपेक्षिताएँ तथा अन्य निबंध, रवीन्द्रनाथ टैगोर रचनावली,

दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, ISBN : 978-81-7309-752-2 (PB), पृष्ठ संख्या – 17

शुक्ल, आचार्य रामचंद्र (2007) हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,

ISBN : 978-81-8031-201-4, पृष्ठ संख्या – 382

डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, ISBN : 81-7198-036-8, पृष्ठ संख्या – 500

राय, अमृत (2012), रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-2, साहित्य अकादमी, ISBN : 978-81-260-2430-8, पृष्ठ संख्या – 469-470

वही, पृष्ठ संख्या – 471

चौधुरीइंद्रनाथ (2013), तपोवन तथा अन्य निबंध, रवीन्द्रनाथ टैगोर रचनावली, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-7309-756-0 (PB), पृष्ठ संख्या – 16

चौधुरी, इन्द्रनाथ (2013), शिक्षा का विस्तार तथा अन्य निबंध, रवीन्द्रनाथ टैगोर रचनावली, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-7309-755-3 (PB), पृष्ठ संख्या – 184

चौधुरी, इन्द्र नाथ (2013), काव्य की उपेक्षिताएँ तथा अन्य निबंध, रवीन्द्रनाथ टैगोर रचनावली,

दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, ISBN : 978-81-7309-752-2 (PB), पृष्ठ संख्या – 124

चौधुरी, इन्द्र नाथ (2013), साहित्य में आधुनिकता तथा अन्य निबंध, रवीन्द्रनाथ टैगोर रचनावली, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-7309-753-9 (घए), पृष्ठ संख्या – 21

द्विवेदी, हजारी प्रसाद (1983), कल्पलता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-7178-893-4, पृष्ठ संख्या – 141

प्रेमचंद, (2008), कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 6

संपर्क : निशांत कुमार, सिद्धा टाउन, फ्लैट नं -110, बेराबेरी, नारायण पुर, गोपालपुर, राजरहट, कोलकाता- 700136, पश्चिम बंगाल, मो. 7004981616

हिन्दी का व्यंग्य साहित्य और परसाई

—श्रद्धा गुप्ता

“फासिस्ट संगठन की विशेषता होती है कि दिमाग सिर्फ नेता के पास होता है, बाकी सब कार्यकर्ताओं के पास सिर्फ शरीर होता है।”

व्यंग्य का जन्म अपने समय की विद्रूपताओं के भीतर से उपजे असंतोष से होता है। इस विधा का मुख्य उद्देश्य है, व्यक्ति और उसके सामाजिक संदर्भों में दिखने वाली किसी भी विसंगति पर कुठाराघात करना, भले ही यह संदर्भ, व्यक्ति और समाज के संबंध का हो सकता है, वर्ग और जाति के समीकरण का हो सकता है या विभिन्न विचार धाराओं के टकराव का।

समाज के नियम कानून के प्रति जब हमारे मन में सवाल उत्पन्न होते हैं तो उस समय हम व्यंग्य कर सकते हैं। व्यंग्य का मतलब ही होता है कि आप उस चीज के प्रति खुश नहीं हैं, आपके मन में सवाल उठ रहे हैं। व्यंग्य किसी चीज के प्रति आ रहा खूनस भी है। अगर हमें कुछ पसंद नहीं है तो हमारी भड़ास भी व्यंग्य को जन्म देती है। व्यंग्य का जन्म अपने समय की विद्रूपताओं के भीतर से उपजे असंतोष से होता है। विद्वानों में इस बात पर मतभेद लगातार बना रहा है कि व्यंग्य को एक अलग विधा माना जाए या कि वह किसी भी विधा के भीतर ‘स्प्रिट’ के रूप में मौजूद रहे। दरअसल व्यंग्य एक माध्यम है जिसके द्वारा व्यंग्यकार जीवन की विसंगतियों, खोखलेपन और पाखंड को दुनिया के सामने उजागर करता है। जिनसे हम सब परिचित तो होते हैं किंतु उन स्थितियों को दूर करने, बदलने की कोशिश नहीं करते बल्कि बहुधा उन्हीं विद्रूपताओं-विसंगतियों के बीच जीने की, उनसे समझौता करने की आदत बना लेते हैं। व्यंग्यकार अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों और स्थितियों की योजना करता है जो इन अवांछित स्थितियों के प्रति पाठकों को सचेत करते हैं। जैसा कि ‘व्यंग्य’ नाम से ही स्पष्ट है, इस विधा में सामाजिक विसंगतियों का चित्रण सीधे-सीधे (अभिधा में) न होकर परोक्षतः (व्यंजना के माध्यम से) होता है। इसीलिए व्यंग्य में मारक क्षमता अधिक होती है।

व्यंग्य विधा के उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं। हिंदी में संत-साहित्य से व्यंग्य का आरंभ माना जा सकता है। कबीर व्यंग्य के आदि प्रणेता हैं। उन्होंने मध्यकाल की सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रहार किया है। जाति-भेद, हिंदू-मुसलमानों के धर्माडंबर, गरीबी-अमीरी, रूढ़िवादिता आदि पर कबीर के व्यंग्य बड़े मारक हैं।

‘जो तू बाभन-बभनी जाया। आन द्वार काहे नहीं आया’।,

‘कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय। ता चढ़ि मुल्ला बांगि दे क्या बहरा हुआ खुदाय’।

आज साहित्य में व्यंग्य विधा को स्वतंत्र विधा मान लिया गया है। समाज की विसंगतियों, भ्रष्टाचार, सामाजिक शोषण अथवा राजनीति के गिरते स्तर की घटनाओं पर अप्रत्यक्ष रूप से तंज या व्यंग्य किया जाता है। साधारणतया लघु कथा की तरह संक्षेप में घटनाओं पर व्यंग्य होता है, जो हास्य नहीं कभी-कभी आक्रोश भी पैदा करता है। व्यंग्य विधा के माध्यम से हम सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में व्याप्त विसंगतियों पर सीधा प्रहार करते हैं। व्यंग्य में जहां हंसी के पुट विद्यमान होते हैं, वही वह व्यवस्था में व्याप्त समस्याओं को उजागर कर शासन-प्रशासन का ध्यान समस्याओं की ओर इंगित करता है। आधुनिक समय में हमारे जीवन के हर क्षेत्र में समस्याएं इतनी बढ़ चुकी हैं, कि उन्हें प्रत्यक्ष कहना अपने आप में संभव नहीं है, ऐसी स्थिति में व्यंग्य एक बहुत बड़ा उपकरण है। व्यंग्य व्यवस्था पर कटाक्ष है, यह समस्याओं को तार-तार कर अर्थात् बड़ी बारीकी से प्रस्तुत करता है। ताकि श्रोता, पाठक या दर्शक देखकर, पढ़कर या सुनकर मनोरंजनात्मक हँसी से लोटपोट होकर व्यवस्था में व्याप्त समस्याओं से साक्षात्कार कर लेता है, तथा व्यंग्यकार व्यंग्य के माध्यम से समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है, यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी जगत में व्यंग्य का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

हिन्दी में हरिशंकर परसाई व्यंग्य विधा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। वे कालजीवी होने साथ 'साथ कालजीवी रचनाकार भी हैं। आज भी उनका साहित्य उतना ही प्रासंगिक और प्रभावपूर्ण है, जितना उनके लेखन काल में था। हिन्दी साहित्य में व्यंग्य विधा के लिए, हर वर्ग के पाठक की चेतना में अगर किसी का नाम पहले - पहल आता है, तो वो परसाई ही हैं। उनके साहित्य में देश का समकालीन इतिहास, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवेश अपने सम्पूर्ण घटनाक्रम के साथ उपस्थित है। व्यंग्य की कलात्मक ऊँचाई और गंभीर प्रभावपूर्ण प्रयोग में परसाई अद्वितीय

हैं। वे हिन्दी के पहले रचनाकार हैं जिन्होंने व्यंग्य को विधा का दर्जा दिलाया और उसे हल्के/फुल्के मनोरंजन की परंपरागत परिधि से उबारकर समाज के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा। उनकी व्यंग्य रचनाएँ हमारे मन में गुदगुदी ही पैदा नहीं करती बल्कि हमें उन सामाजिक वास्तविकताओं के आमने-सामने खड़ा करती हैं- जिनसे किसी भी और राजनैतिक व्यवस्था में पिसते मध्यमवर्गीय मन की सच्चाइयों को उन्होंने बहुत ही निकटता से पकड़ा है।

‘दुनिया में भाषा, अभिव्यक्ति के काम आती है। इस देश में दंगे के काम आती है।’

इतना ही नहीं परसाई व्यंग्य के माध्यम से जो सीधी बात कहना चाहते हैं कि एक प्रोफेसर या शिक्षक को कैसा होना चाहिए? गुटबाजी से परे, ऊँचे आचरण वाला, सभी छात्रों को समान दृष्टि से देखने वाला होना चाहिए। लेकिन आज भी विश्वविद्यालयों गिने चुने ही शिक्षक आपको ऐसे मिल पाएँगे। छात्र बोले भले ही न अपने भविष्य के लोभ में पर वे समझते सब हैं। वैसे ही ‘बड़े लड़के अपने पिता को भी जानते हैं। वे देखते हैं कि पिता का वेतन तो सात हजार है, पर घर का ठाठ आठ हजार स्त्रियों का है। मेरा बाप घूस खाता है। मुझे ईमानदारी के उपदेश देता है।’ [2]

उन्होंने सदैव विवेक और विज्ञान सम्मत दृष्टि-को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा ‘शैली में ख़ास किस्म का अपनापन महसूस होता है कि लेखक उसके सामने ही बैठे हैं। ‘ठिठुरता हुआ गणतंत्र’ की रचना हरिशंकर परसाई ने की जो एक व्यंग्य है।

हरिशंकर परसाई जी का जन्म 22 अगस्त 1924 को मध्य प्रदेश के होशंगा बाद जिले के जमानी ग्राम में हुआ था।

हरिशंकर परसाई जी के पिता के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। इतना ही ज्ञात कि 18 वर्ष की आयु में इनके पिता का साथ इनसे छूट गया था।

इनकी माता जी बीमार रहती थीं और उनका देहान्त जब परसाई जी 12-15 वर्ष की अवस्था में थे तभी हो गया था। यह अपने पाँच भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। इसलिए पिता की मृत्यु के उपरान्त इनके कंधों पर ही परिवार की जिम्मेदारी आ गयी थी। उनके ऊपर दो छोटी बहनों व एक भाई का बोझ किशोरावस्था में ही आ गया था। परसाई जी के शब्दों में- “मेरे मैट्रिक पास होने की राह देखी जाने लगी। समझने लगा कि पिताजी भी अब जाते ही हैं। बीमारी की हालत में उन्होंने एक बहिन की शादी कर दी थी। बहुत मनहूस उत्सव था वह। मैं बराबर समझ रहा था कि मेरा बोझ कम किया जा रहा है। पर अभी दो छोटी बहिनें और एक भाई थे।” [3]

हरिशंकर परसाई जी गाँव से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे नागपुर चले गये थे। नागपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने एम.ए. हिन्दी की परीक्षा पास की। मैट्रिक के उपरान्त वन विभाग में नौकरी कर ली। वहाँ के सरकारी टपरे में रहकर भीतर ही भीतर अपने को मजबूत किया। आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना उन्हें शुरू से ही आ गया था। उन्होंने एक बात सीख ली थी - उन्हें बिना टिकट ही सफ़र करना है। “जबलपुर से इटारसी, टिमरनी, खण्डवा, देवास बार-बार चक्कर लगाने पड़ते। पैसे थे नहीं। मैं बिना टिकट बेखटके गाड़ी में बैठ जाता। तरकीब बचने की बहुत ही आ गई थी।” [4]

इन सब विषम परिस्थितियों के बावजूद उनकी लेखनी अनवरत चलती रही। साहित्य सृजन का प्रारम्भ तो इन्होंने नौकरी के साथ ही प्रारम्भ कर दिया था। सन 1950-51 में खूब जमकर लिखा। हरिशंकर परसाई और व्यंग्य एक दूसरे के पर्याय माने जाते थे। “यह सही है कि परसाई जी ने व्यंग्य को हिन्दी गद्य में एक सक्षम और स्वतंत्र विधा जैसी प्रतिष्ठा दिलायी है, लेकिन व्यंग्य मूलतः एक स्फिरिट है कोई विधा नहीं। व्यंग्य की इस स्फिरिट का विभिन्न गद्य विधाओं में प्रयोग करते हुए परसाई जी ने इन

प्रचलित विधाओं को नये आयाम और सार्थक विस्तार दिए हैं। अपनी विशिष्ट अंतर्वस्तु के अनुरूप उन्होंने ” [5]

एक व्यंग्यकार, व्यक्ति-जीवन की विडंबनाओं का एक ऐसा रेखाचित्र खींचता है जिसे पढ़कर एक चेतन पाठक अपने आप से भी सवाल उठाने पर विवश हो जाता है। परसाई के व्यंग्यों में समय और समाज की विसंगतियों और विरोधाभासों को मौके-बेमौके परास्त होते देखा जा सकता है।

बेवजह और अतार्किक रूप से किसी बहाने से दूसरे की निंदा-शिकायत करने वाले लोगों पर तंज कसते हुए परसाई ने लिखा ‘निंदा में विटामिन और प्रोटीन होते हैं।

निंदा खून साफ़ करती है, पाचन-क्रिया ठीक करती है, बल और स्फूर्ति देती है।

निंदा से मांसपेशियां पुष्ट होती हैं। निंदा पायरिया का तो शर्तिया इलाज़ है।

संतों को परनिंदा की मनाही होती है, इसलिए वे स्वनिंदा करके स्वास्थ्य अच्छा रखते हैं।

‘मौसम कौन कुटिल खलकामी’ यह संत की विनय और आत्मग्लानि नहीं है, टॉनिक है। संत बड़ा कांइयां होता है। हम समझते हैं कि वह आत्म स्वीकृति कर रहा है, पर वास्तव में वह विटामिन और प्रोटीन खा रहा है। स्वास्थ्य विज्ञान की एक मूल स्थापना तो मैंने कर दी। अब डॉक्टरों का कुल इतना काम बचा कि वे शोध करें कि किस तरह की निंदा में कौन-से और कितने विटामिन होते हैं, कितना प्रोटीन होता है। मेरा अंदाज है, स्त्री संबंधी निंदा में प्रोटीन बड़ी मात्रा में होता है और शराब संबंधी निंदा में विटामिन बहुत होते हैं।” [6]

इसी निर्भीक प्रवृत्ति के कारण वे किसी नौकरी में स्थायी रूप से न रह सके। परसाई जी को जीवन में बड़ी त्रासदी और गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। यद्यपि यह भी सच है कि इन्हीं गम्भीर परिस्थितियों ने ही उन्हें लेखन की ओर मोड़ा।

इस बात की पुष्टि करते हुए परसाई जी ने स्वयं कहा है-“मेरा अनुमान है कि मैंने लेखन को दुनिया से लड़ने के लिए एक हथियार के रूप में अपनाया होगा। दूसरे इसी में मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे अपने को अवशिष्ट होने से बचाने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया। यह तब की बात है मेरा ख्याल है तब की बात होगी। पर जल्दी में व्यक्तिगत दुःख के इस सम्मोहन जाल से निकल गया। मैंने अपने को विस्तार दे दिया दुःखी और भी हैं अन्याय पीड़ित और भी हैं, अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमें से एक हूँ पर मेरे हाथ में कलम है और मैं चेतना सम्पन्न हूँ। यहीं कहीं व्यंग्य लेखक का जन्म हुआ। मैंने सोचा होगा रोना नहीं है लड़ना है। जो हथियार हाथ में है उसी से लड़ना है। मैंने तब सही ढंग से इतिहास, समाज, राजनीति और संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही एक औघड़ व्यक्तित्व बनाया और गम्भीरता से व्यंग्य लिखना शुरू कर दिया।”

हरिशंकर परसाई के व्यंग्य समाज के प्रत्येक हिस्से को छूते हैं। वे समाज के अर्थ से लेकर फर्श तक टिप्पणी करते हैं। भारतीय समाज में एक बड़ी आबादी युवाओं की है और किसी भी समाज को वहाँ की राजनीति गहरे से प्रभावित करती है। भारतीय युवाओं के साथ राजनीति क्या कर रही है? परसाई लिखते हैं “दिशाहीन, बेकार, हताश, नकारवादी, विध्वंसवादी बेकार युवकों की यह भीड़ खतरनाक होती है। इसका प्रयोग महत्वाकांक्षी खतरनाक विचारधारा वाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं। इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने किया था। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है जो उनमें उन्माद और तनाव पैदा कर दे। फिर इस भीड़ से विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं। यह भीड़ फासिस्टों का हथियार बन सकती है। हमारे देश में यह भीड़ बढ़ रही है। इसका

उपयोग भी हो रहा है। आगे इस भीड़ का उपयोग सारे राष्ट्रीय और मानव मूल्यों के विनाश के लिए, लोकतंत्र के नाश के लिए करवाया जा सकता है। [7]

परसाई के विषय में विभिन्न विद्वानों का मत:-

सुदर्शन मजीठिया- “परसाई जी की व्यंग्य चेतना के निर्माण में मार्क्स के विचारों एवं व्यापक जीवनानुभवों के साथ-साथ अनेक सफल भारतीय एवं पाश्चात्य व्यंग्यकारों की रचना-दृष्टि का बहुत बड़ा हाथ है। एक ओर भक्ति-आंदोलन के शीर्षस्थ व्यंग्यकार कबीर के सरल व्यक्तित्व एवं निर्मम निर्भीक वाणी ने उन्हें बहुत गहराई तक प्रभावित किया तो दूसरी ओर चेखव की कर्षणा केंद्रित व्यंग्य दृष्टि उनका आदर्श रही। इसके अतिरिक्त, माक्टेरेवेन, गार्डनर, गोगोल, डिकेंस, हेनरी शॉ, गोर्की आदि की व्यंग्यात्मकता ने उनकी सूझ-बूझ को समृद्ध बनाया तभी तो व्यंग्ये विषयक हर पहलू को लेकर वे दो टूक बात करते नज़र आते हैं।” [8]

धनंजयवर्मा-“परसाई की व्यंग्य कहानियों के आक्रामक स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- “वो हमारे इतने रूबरू तीखी चोट करने वाली, तिलमिला देने वाली, इतनी आत्मीय सीधी और सहज हैं कि सारी आलोचना उनके सामने निहत्थी और असहायता खड़ी रह जाती है। अपनी इस बेचारगी के असहाय से भरकर ही शायद कुछ समकालीन आलोचकों ने पलट कर इन कहानियों पर वार किया था कि वे तो कहानियाँ ही नहीं हैं उन्हें हल्क-फुल्के व्यंग्य लेखन के खाते में डालकर, विधाओं के अपने बने बनाए सांचों की पवित्रता और शुद्धता की रक्षा करते हुए चंद आलोचकों ने उन्हें रचनात्मक साहित्य से खारिज करना चाहा था। विधाओं की शुद्धता और पवित्रता की इन आलोचकों की मांग उतनी ही रचना एवं काल विरोधी है, जितना कि जातीय शुद्धता का नारा मानव विरोधी और संस्कृति विरोधी है और इतिहास में हम दोनों का हश्र देख चुके हैं।” [9]

शोधार्थी की कलम से

हरिशंकर परमाई ने अत्यन्त सफाई से उस देश का सत्य उजागर किया है। जहाँ गणतंत्र ठिठुरता रहता है। वहाँ आदमी बेचारा बनकर जीने के लिए विवश है।

व्यंग्य संकलनों में उनके व्यंग्य एक ही तरह एक ही भाव मुद्रा में, एक ही सरोकार के साथ विद्यमान है। हंसते हैं रोते हैं (1956), तब की बात और थी (1956), भूत के पांव पीछे (1962), जैसे उनके दिन फिरे (1963) बेईमानी की परत (1965) सुनो भई साधो (1965), पंगडंडियों का जमाना (1966), सदाचार का ताबीज (1967), उल्टी सीधी (1968), और अन्त में (1968), निठल्ले की डायरी (1968), ठिठुरता हुआ गणतन्त्र (1970), शिकायत मुझे भी है (1970), अपनी-अपनी बीमारी (1972), तिरछी रेखाएँ (1972), वैष्णव की फिसलन (1976), मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं (1977), एक लड़की पांच दिवाने (1980), विकलांग श्रद्धा का दौर (1981), पाखण्ड का अध्यात्म (1982), दो नाक वाले लोग (1983), काग भगोड़ा (1983), प्रतिनिधि व्यंग्य (1983), तुलसीदास चन्दन घिसे (1986), कहत कबीर (1987), ऐसा भी सोचा जाता है (1993), हम इक उम्र से वाकिफ हैं (1994)। इन सभी व्यंग्य में शरीफ किस्म की लाठी चार्ज करने की अनोखी क्षमता है। इनका व्यंग्य लेखन पारस्परिक रूपों से और घिसी हुई मर्यादाओं को नकार कर नई पृष्ठभूमि का उदय करता है। एक व्यंग्यकार की सफलता का आकलन इसी तथ्य से किया जा सकता है कि उसके व्यंग्यों की सामाजिक सोद्देश्यता क्या है? और उसके सरोकार क्या हैं? लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता के विषय में परसाई के विचार थे: 'लेखक समाज का एक अंग है और उस समाज पर जो गुजरती है, उसमें सहभागी है, समाज के उत्थान और पतन, संघर्ष, सुख-दुख, आशा-निराशा, अन्याय-उत्पीड़न आदि में वह दूसरों का सहभोक्ता है। वे कालजीवी

होने साथ' साथ कालजयी रचनाकार भी हैं। आज भी उनका साहित्य उतना ही प्रासंगिक और प्रभावपूर्ण है, जितना उनके लेखन काल में था। उनके साहित्य में देश का समकालीन इतिहास, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवेश अपने सम्पूर्ण घटना-क्रम के साथ उपस्थित है। भारत ही नहीं वहाँ विश्व' परिदृश्य भी है। व्यंग्य की कलात्मक ऊँचाई और गंभीर प्रभावपूर्ण प्रयोग में परसाई अद्वितीय हैं। उनका साहित्य युवा साहित्यकारों का मार्ग दर्शन ही नहीं करता अपितु उन्हें पाठकों से सम्बद्ध होने की प्रेरणा भी देता है। सार्थक साहित्य की लोकप्रियता के वे प्रतिमान हैं। उनकी रचनाओं की विविधता अनुकरणीय है। जीवन और समाज का शायद ही कोई पक्ष हो जिसपर उनकी दृष्टि नहीं गयी हो।

संदर्भ सूची:-

- 1) कबीर ग्रंथावली, संपादक श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
- 2) आवारा भीड़ के खतरे, हरीशंकर परसाई, राजकमल पेपर बैक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.- 11
- 3) आंखन देखी, हरिशंकर परसाई, पृष्ठ सं.- 25-26
- 4) परसाई रचनावली भाग-2, श्याम कश्यप, पृष्ठ सं.- 90
- 5) श्री कमला प्रसाद, आंखन देखी, हनुमान प्रसाद वर्मा, पृष्ठ सं.- 50
- 6) हरिशंकर परसाई की रचना 'वो जो आदमी है न' से उद्धृत)
- 7) आवारा भीड़ के खतरे, हरीशंकर परसाई, राजकमल पेपर बैक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.- 13
- 8) समकालीन हिंदी व्यंग्य एक परिदृश्य पृष्ठ सं. - 37
- 9) परसाई रचनावली भूमिका भाग-1, पृष्ठ सं. - 9

संपर्क : शोधार्थी, कल्याणी विश्वविद्यालय, ब्लॉक - C, नदिया, कल्याणी,
पश्चिम बंगाल - 741245 ए. मो. - 7605852634,

बात निकली है तो फिर . .

-नवनीत मिश्र

ये वही बिब्बी थी, फैजाबाद में जिसका घर दुश्मनों ने जलाकर राख कर डाला था और वह अपनी झिलमिल आंखों से सब कुछ को राख में बदलते हुए देखती रह गई थी। मां मुश्तरी बाई जिसे लेकर गया, बिहार चली गई थीं और जो कई उस्तादों से संगीत की तालीम हासिल करने के बाद अख्तराई बाई फ़ैजाबादी बनकर हिन्दुस्तानी संगीत के आसमान पर ऊदी-सी घटा बन छा गई थीं। ये वही अख्तराई बाई थीं जिनकी ग़ज़ल -

“दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे
वरना कहीं तकदीर तमाशा न बना दे।
ऐ देखने वालो मुझे हँस-हँस के न देखो
तुमको भी मोहब्बत कहीं मुझसा न बना दे।”

-को सुनकर मेवाती घराने के पण्डित जसराज को गायक बनने की प्रेरणा मिली थी।

ये वही अख्तराई थीं जिन्होंने अपनी गरदन से बाई का तौक़ उतारने के लिए काकोरी के नवाब, बैरिस्टर इश्तियाक़ अहमद से इल्तिजा की, ‘क्या आप मुझे गङ्गे से निकाल कर चबूतरे पर बैठा देंगे?’ महफ़िलों में बाइयों का गाना सुनने का शौक़ रखना एक बात है लेकिन किसी बाई को घर की ज़ीनत बनाने के बारे में सोचना तो बिल्कुल नामुमकिन-सी बात थी। इश्तियाक़ अहमद ने काफी समय तक ना-नुकुर करने के बाद हमी तो भरी लेकिन वह इतनी आसान हुंकारी नहीं थी। वह अख्तराई बाई की गरदन से ‘गानेवाली’ और ‘तवायफ़’ का तौक़ उतार फेंकने के एवज़ में, ताज़िन्दगी कभी गाना न गाने की शर्त की मोटी और वज़नदार ज़ंजीरें पकड़े सामने आ खड़े हुए। ‘बाई’ ने फैसला करने में ज़रा भी वक्त नहीं लगाया और ‘बेगम’ बनने की लालसा में सारी शर्तों को मंजूर कर लिया। ज़ंजीरें पहनने के लिए झुके हुए सिर के साथ अपने आपको ‘मालिक’ के हवाले कर दिया।

अख्तराई बाई बेगम अख्तर तो बन गईं लेकिन गले में उठ रहे संगीत के सुरों को जबरन गले में ही दबोचे रखने के लिए होने वाले संघर्ष से उनके गले में जैसे खरोचें-सी पड़ने लगीं। फेफड़े सांस भरते, गुनगुनाहट गले की मांसपेशियों को टहोके -सी मारती रहती, सुर सीने में उठते तो लगता जैसे सीना फाड़कर बाहर आ निकलेंगे, रेडियो पर बजते अपने रिकार्ड सुनकर मन में हूक-सी उठती, लेकिन फिर मन को समझाती कि आखिर मौसीक़ी से ताल्लुक़ात तर्क कर लेने का फ़ैसला तो उन्हीं का था। सुरों को सीने में ही दफ़्न करने की

ज़बरदस्ती का नतीजा था कि बेगम अख़्तर बीमार हो गई। डाक्टरों ने राय दी कि रोग का एक ही इलाज है कि बेगम अख़्तर फिर से गाना शुरू कर दें जिसके लिए इश्तियाक़ अहमद किसी सूरत राज़ी नहीं थे। बाद में कुछ लोगों के बहुत समझाने पर इश्तियाक़ अहमद को अपनी ज़्यादती का अहसास हुआ और उन्होंने अपनी बेगम को गाने की इजाज़त दे दी। यह इजाज़त सिर्फ़ रेडियो पर गाने के लिए थी और उसमें शर्त थी कि अनाउन्सर कोई महिला ही होगी और अगर कोई पुरुष अनाउन्सर होगा तो स्टूडियो और अनाउन्सर बूथ के बीच की शीशे की खिड़की पर पर्दा लगाना ज़रूरी होगा। यह शर्त बहुत दूर तक नहीं चल सकती थी क्योंकि उनके साथ संगत करने वाले सारे कलाकार तो पुरुष ही होते थे।

कुछ भी हो, छटपटाती हुई बेगम अख़्तर को जैसे छूटती हुई सांस वापस मिल गई थी और वह जी उठी थी।

जिस दिन बेगम अख़्तर साहिबा के गायन का सजीव प्रसारण होता था आकाशवाणी का वह दिन बहुत गुलज़ार हुआ करता था। उनका वह धीरे-धीरे चलना, उनका शाहाना अन्दाज़ और होठों पर खिली रहा करने वाली मुस्कान देखने वालों को मंत्रमुग्ध कर देती। गाते समय उनकी नाक की हीरे की लौंग अलग से दमकती-सी दीखती, जो उनकी पहचान बन गई थी।

आकाशवाणी लखनऊ में उन दिनों सजीव कार्यक्रम अक्सर प्रसारित होते थे। किसी दिन बदायूँ के तराना गाने के लिए विख्यात उस्ताद निसार हुसैन खाँ आ रहे हैं, किसी दिन होठों ही होठों में गाने वाले नसीर अहमद खाँ का कार्यक्रम है और किसी दिन बेगम अख़्तर साहिबा का गायन है। एक बार एक अनाउन्सर ने बेगम

अख़्तर के गायन की उद्घोषणा करते हुए बेगम के ग के नीचे रेफ लगाकर यानी ग के नीचे नुक्ता लगाकर उनका नाम बोल दिया जो गलत था उसे बेगम होना था न कि बेगम। पुरमजाक़ बेगम साहिबा ने गायन समाप्त करने के बाद अनाउन्सर के पास जाकर कहा, ‘बेटा, मैं बहुत ग़मज़दा हूँ बेगम नहीं हूँ।’

ग और ग के सिलसिले से अचानक कई बातें दिमाग में कौंध गई हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि उर्दू बहुत ही शीरी ज़बान है। अनाउन्सर या एंकर चाहे रेडियो का हो या टेलीविजन का अपने बोलने में चमक पैदा करने के लिए वह उर्दू के अल्फ़ाज़ प्रयोग में लाने से अपने आप को रोक नहीं पाता। दिक्कत तब पैदा होती है जब किसी शब्द का प्रयोग उसका सही अर्थ और सही उच्चारण जाने बिना किया जाता है। जलील में ज के नीचे नुक्ता मत लगाइये तो वह जलील अर्थात् प्रतिष्ठित, महान और पूज्य बना रहेगा लेकिन ज के नीचे नुक्ता लगते ही उसी प्रतिष्ठित और महान को ज़लील यानी भ्रष्ट, अधम और नीच बनते जरा भी समय नहीं लगेगा। फिल्म हम दोनों के “मैं ज़िन्दगी का साथ निभाता चला गया” गाने को जरा गौर से सुनिये। मु. रफी साहब गाते हैं “बरबादियों का सोग मनाना फ़ुज़ूल था”। उस लाइन को गौर से सुनने से पहले, पचास बरस की उम्र तक मैं यही जानता था कि शब्द ‘फ़िज़ूल’ होता है। अपने बोलने में उर्दू की छौंक लगाने का एक वाक़या मेरे साथ भी जुड़ा हुआ है।

प्रख्यात शायर बेकल उत्साही का लखनऊ रेडियो से सजीव प्रसारण था। मैंने अनाउन्समेंट किया, “हमारे स्टूडियो में नामी ग़रामी शाइर जनाब बेकल उत्साही साहब तशरीफ़रमां हैं...।

प्रसारण पूरा होने पर बेकल उत्साही और उर्दू सेक्शन के प्रोड्यूसर शफ़आत साहब, जो स्टूडियो में उनके साथ बैठे रहे थे, अनाउन्सर बूथ में आए।

“वाह बहुत खूब। बहुत अच्छा बोलते हैं आप,” बेकल उत्साही ने तारीफ़ की।

“जी, आपकी मेहरबानी है जनाब।” मैंने आदाब करते हुए कहा।

“अजी नहीं साहब, मेहरबानी तो आपकी है कि आपने हमें नामी गामी शायर ही कहा नामी हरामी शायर नहीं कह दिया।”

उनकी बात सुनकर मैं हक्का-बक्का-सा रह गया। “नामी गरामी नहीं, नामी गरेमी होता है और ग के नीचे नुक्ता नहीं लगता,” शफ़आत साहब ने भूल सुधार की तो मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ और बेकल साहब ने जो कहा था उसके पीछे छिपी उनकी नाराज़गी का पता लगा।

गलत नुक्तों की तरह कुछ शब्दों के प्रचलन भी इतने गलत हो गए हैं कि उन शब्दों के अर्थ ही जैसे बदल गए-से लगते हैं। एक शब्द बहुत सुनने में आता है-खुलासा।

संवाददाताओं के सामने इस बात का खुलासा करते हुए उन्होंने कहा कि. . . बोलने वाला ‘खुलासा’ शब्द को खोलने के अर्थ में प्रयुक्त करता है जबकि खुलासे का खोलने के अर्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं है। खुलासे का अर्थ होता है - संक्षिप्तीकरण। आपने रेडियो पर उर्दू ख़बरों के समाप्त होने से पहले सुना होगा- ‘और आख़िर में ख़बरों का खुलासा’ यानी ख़बरें संक्षेप में अर्थात् हेडलाइन।

शाइर ख़ालिद नदीम शानी अपने शेर में कहते हैं -

मुख़्तसर वक्त में यह बात नहीं हो सकती
दर्द इतने हैं खुलासे में नहीं आएंगे।

अर्थात् दर्द इतने हैं जिन्हें संक्षेप में बयान नहीं किया जा सकता।

इसी तरह शब्द का सही अर्थ न जानने का एक वाकया तब पेश आया जब आज कल चैनल की माया-ए-नाज़ एंकर अंजना ओम कश्यप शाइर जावेद अख़्तर साहब का इन्टरव्यू कर रही थीं। अंजना तमाम कठिन सवाल पूछकर जावेद अख़्तर को घेरने की लगातार कोशिश कर रही थीं लेकिन जैसी कि, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पढ़े हुए लोगों की सिफ़त होती है, जावेद अपनी वाक्पटुता के चलते हर बार किनारा करके निकल जाते थे और अंजना चुप हो रहतीं।

इन्टरव्यू ख़त्म होने को था कि अंजना ने जावेद अख़्तर से कहा - आख़िर मैं आपसे एक सवाल करने की हिमाकत करूं? जावेद अख़्तर ने छूटते ही कहा- “इतनी देर से आप और कर क्या रही थीं।” अंजना कहना चाहती थीं कि क्या मैं आपसे एक सवाल करने की हिम्मत करूं?

लेकिन उनको नहीं पता था कि हिमाकत का मतलब हिम्मत नहीं बेवकूफी होता है। जावेद ने अपनी हाज़िरजवाबी से अपने हिसाब से उन्हें परास्त कर दिया भले ही बहुत से लोगों ने इस महीन बात को समझा न हो क्योंकि बहुत से शब्द अपने गलत अर्थों को लेकर खोटे सिक्कों की तरह प्रचलन में आ गए हैं।

लेकिन फिर एक समस्या यहां यह भी पैदा होती है कि हम कैसे जाने कि हम जो जानते हैं वह सही है या नहीं? इसके लिए हमें अपने ऊपर सन्देह करना आना चाहिए और अच्छा बोलने वालों को खूब तन्मयता से सुनना चाहिए। तलफ़्फ़ुज़ यानी उच्चारण सुधारने में उर्दू सर्विस के अनाउन्सर इसमें बहुत मददगार हो सकते हैं। कभी-कभी जब आपको किसी शब्द के अर्थ न भी पता करने

हों तब भी शब्दकोश को यूँ ही उलटते-पलटते रहना चाहिए, भाषा चाहे कोई भी हो। ऐसा करने से आपकी शब्द सम्पदा में वृद्धि होती रहती है।

तो लौटें बेगम अख्तर साहिबा के प्रसारण के वाक्य पर।

जिस दिन बेगम अख्तर साहिबा के गायन का सजीव प्रसारण होता, वह अपना गायन समाप्त करने के बाद ड्यूटी-रूम में आकर बैठतीं। वहां ड्यूटी अफसर उनको चेक देता जिसे वह चेक प्राप्ति की रसीद पर दस्तखत बनाने के बाद बगैर उसे देखे बेपरवाही से अपने हैण्डबैग के हवाले कर देतीं। उनका खुदा ही बेहतर जानता था कि वह उस चेक को बैंक में जमा भी करती थीं या नहीं। बेगम साहिबा के लिए चेक महत्वपूर्ण नहीं था उनके लिए महत्वपूर्ण होती थी यह बात कि वह गा रही हैं। वह इत्मीनान से कैप्सटोन सिगरेट की अपनी डिब्बी निकालतीं, बड़ी नफासत से एक सिगरेट सुलगातीं और एक-एक कश का पूरा मजा लेतीं। डिब्बी और माचिस मेज पर रखी रहती और जिसका जी चाहता उस डिब्बी से सिगरेट निकाल कर पीता। इस बीच बेगम साहिबा ड्यूटी-रूम में मौजूद सभी लोगों के लिए चाय लाने के लिए कहतीं। सबको चाय पिला लेने के बाद ही वह वापस जातीं।

उस दिन आकाशवाणी के गेट पर चाय के उठल्लू चूल्हे का इन्तजाम रखने वाले साहू के यहां से एक छोकरा एक छीके में दस-बारह गिलास

चाय लेकर ड्यूटी-रूम में आया। पांच-छः साल का वह छोकरा बेहद काला था। उसकी निक्कर का एक पांयचा लंबा और एक छोटा था।

कमीज भी उसकी कई जगहों से फटी हुई थी। साहू ने चाय का नया-नया व्यवसाय शुरू किया था और उसके घर के सभी छोटे-बड़े उस काम में लगे हुए थे।

छोकरे ने चाय का छीका मेज पर रखा और जाने लगा। तभी बेगम साहिबा ने उससे पूछ लिया, 'क्या नाम है तुम्हारा?' छोकरा जवाब देने के बजाय शरमाकर मुस्कुरा दिया। बेगम अख्तर साहिबा ने उसका हाथ पकड़ा और अपनी ओर कुछ खींचते हुए कहा, 'एक बार और मुस्कुराओ।' छोकरा हंस पड़ा। काले चेहरे पर उसकी चमकती हुई उजली हंसी जैसे अलग से कौंध पड़ी? बेगम साहिबा ने अपने बैग में हाथ डाला और मुट्ठी में भरकर चवन्नी, अठन्नी और एक रुपये के जितने सिक्के आ सकते थे, निकाले और छोकरे की हथेली खुलवा कर उसमें रख दिए।

छोटी-सी हथेली की सामर्थ्य इतने सारे सिक्कों को संभाल पाने की नहीं थी। सारे सिक्के फर्श पर छनकते हुए गिरे और बिखर गए और उसी के साथ बेगम अख्तर साहिबा की खनकती हुई उन्मुक्त हंसी भी सुनाई दी। आज भी दोनों आवाजें कानों में ताजा हैं। आज भी नहीं कह सकता कि किसकी खनक ज्यादा थी।

संपर्क : ई 4 सौभाग्य अपार्टमेंट, 8, गोपाल नगर, लखनऊ - 2260 23, मो. 9450000094

लफ्जों का संजीदगी से इस्तेमाल करने की सलाह देने वाले प्रख्यात पंजाबी कवि सुरजीत पातर नहीं रहे-

-आलोक वर्मा

आज सुबह आंख खुली और मोबाइल खोला तो वरिष्ठ पत्रकार साथी एसपी सिंह का मैसेज देख कर मन विचलित हो उठा। उन्होंने जानकारी दी थी कि पंजाबी के वरिष्ठ कवि, साहित्यकार डॉ. सुरजीत पातर का निधन हो गया।

पातर का शनिवार 11 मई 2024 को सुबह लुधियाना स्थित उनके आवास पर निधन हो गया। वह 79 वर्ष के थे। उनके परिजनों ने बताया कि वह कल शाम को बिल्कुल ठीक थे। रात में सोये लेकिन सुबह जागे ही नहीं।

लेखक और वकील हरप्रीत सिंह संघू ने मीडिया को बताया कि सुरजीत पातर की पत्नी भूपिंदर कौर का सुबह करीब सात बजे फोन आया कि पातर कोई मूवमेंट नहीं कर रहे हैं। वह तुरंत उनके घर पहुंच गए। उन्हें एंबुलेंस की मदद से अस्पताल लेकर गए, लेकिन डाक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया।

डॉ. सुरजीत पातर का जन्म जालंधर के गांव पातर कलां में 14 जनवरी 1945 को हुआ था। गांव पातर कलां के स्कूल में चौथी कक्षा तक की पढ़ाई की। इसके बाद दूसरे गांव खैरा माझा से हाईस्कूल तक की पढ़ाई की। पंजाब विश्वविद्यालय, पटियाला से एम.ए., पी.एच.डी करने के बाद पातर ने गुरु नानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर से पी.एच.डी. की। इसके बाद वह पंजाब कृषि विश्वविद्यालय (पीएयू) लुधियाना में पंजाबी के प्रोफेसर रहे और वहीं से सेवानिवृत्त हुए।

पातर की प्रख्यात काव्य रचनाओं में 'हवा विच लिखे हर्फ', 'हनेरे विच सुलगदी वरनमाला', 'पतझड़ दी पाजेब', 'लफ्जां दी दरगाह' और 'सुरजमीन' शामिल हैं। सुरजीत पातर ने साहित्य के क्षेत्र में अहम उपलब्धियां हासिल कीं।

उनको 2012 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया था। उन्होंने पंजाबी साहित्य अकादमी के अध्यक्ष के रूप में भी कार्य किया। वह पंजाब कला परिषद के अध्यक्ष थे। उन्हें 1979 में पंजाब साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1993 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1999 में पंचानंद पुरस्कार, 2007 में आनंद काव्य सम्मान, 2009 में सरस्वती सम्मान और गंगाधर राष्ट्रीय कविता पुरस्कार भी मिले थे। पातर ने किसान आंदोलन के दौरान किसानों के समर्थन में पद्मश्री लौटाने का ऐलान तक कर दिया था।

एक जगह डॉ. सुरजीत पातर ने बताया था कि उनके कविता लिखने की शुरुआत कैसे हुई। उन्होंने कहा कि बचपन में ही घर की जिम्मेदारियों को निभाने के

लिए पिता को विदेश जाना पड़ा। मां के चेहरे की उदासी मुझे अंदर तक विचलित कर देती थी। तभी से मैंने थोड़ी बहुत कविता करना शुरू कर दिया था। उनका कहना था कि कहावतें और लोक कथाएं उनकी कविता के लिए प्रेरणा बनीं। उनकी हर कविता के पीछे कोई न कोई गहरा अनुभव जुड़ा हुआ है।

उनका कहना था कि कविता में लफ्जों का इस्तेमाल संजीदगी से किया जाना चाहिए, ये कई राज छिपाते और खोलते हैं। उनकी कविता में पंजाब की खुशबू महकती थी।

पातर ने 60 के दशक के मध्य में कविताएं लिखनी शुरू कीं। 'लफ़ज़ा दी दरगाह' 'हवा विच लिखे हर्फ' और 'हनेरे विच सुलगदी वरनमाला' उनकी चर्चित कविताएं हैं। डॉ. पातर ने 'शहीद उधम सिंह' और दीपा मेहता की 'हैवन ऑन अर्थ' के पंजाबी संस्करण जैसी फिल्मों के लिए संवाद भी लिखे।

इसके अलावा उन्होंने फेडरिको गार्सिया लोर्का की तीन त्रासदियों, गिरीश कर्नाड की 'नागमंडला' और बर्टोल्ट ब्रेख्त और पाब्लो नेरुदा की कविताओं का पंजाबी में अनुवाद भी किया।

पातर के निधन पर पंजाब के नेताओं ने शोक जताया है। सीएम भगवंत मान ने एक्स पर लिखा- पंजाबी भाषा के गौरवशाली सपूत सुरजीत पातर के अचानक निधन पर बेहद दुख है।

मेरा उनसे कोई खास परिचय नहीं था लेकिन मैं उनकी कविताओं का मुरीद हूँ। जब कभी समय मिलता था तो उन आयोजनों में शामिल होने की कोशिश जरूर करता था जिसमें उनकी भागीदारी होती थी। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनका हमेशा मुस्कुराते रहना था। गंभीर से गंभीर विषयों पर आयोजित संगोष्ठियों में वे अपने सहज-सरल बातों के जरिये माहौल को बदल देते थे। उनकी मौजूदगी से कार्यक्रम को गरिमा मिलती थी।

वे अपने उदाहरणों के जरिये विषय को सहजता प्रदान करते थे और हमेशा आकर्षण का केंद्र होते थे। वे शब्दों के जादूगर थे। वे शब्दों के महत्व को समझते थे और उनका कहां किस रूप में उपयोग किया जाना है, इसके बेहतरीन उदाहरण थे। सहज और सरल शब्दों के जरिए कड़ी से कड़ी बात कह देते थे और कभी प्रतिरोध जताने में संकोच भी नहीं करते थे। संभवतः उन्हें पंजाबी से ज्यादा दूसरी भाषाओं के पाठक पसंद करते थे। वे सचमुच वैश्विक साहित्यकार थे और रहेंगे। उनका निधन पंजाबी ही नहीं पूरे विश्व साहित्य की क्षति है।

उनकी कविताएं यहां श्रद्धांजलि स्वरूप दे रहा हूँ। सभी कविताओं का अनुवाद चमन लाल ने किया है।

कवि साहिब

मैं पहली पंक्ति लिखता हूँ
और डर जाता हूँ राजा के सिपाहियों से
पंक्ति काट देता हूँ
मैं दूसरी पंक्ति लिखता हूँ
और डर जाता हूँ बागी गुरिल्लों से
पंक्ति काट देता हूँ
मैंने अपने प्राणों की खातिर
अपनी हज़ारों पंक्तियों को
ऐसे ही क्रल किया है
उन पंक्तियों की आत्माएँ
अक्सर मेरे आसपास ही रहती हैं
और मुझे कहती हैं :
कवि साहिब
कवि हैं या कविता के क्रांतिल हैं आप ?
सुने मुनसिफ बहुत इंसानों के क्रांतिल
बड़े धर्म की पवित्र आत्मा को
क्रल करते भी सुने थे
सिर्फ यही सुनना बाक़ी था
कि हमारे वक्त में ख़ौफ़ के मारे
कवि भी बन गए
कविता के हत्यारे।

(शेष कविताएँ 'इस पार तक' के पृष्ठ पर)

संपर्क : आलोक वर्मा, मो. 8837628766

घर में साहित्य का माहौल बनाए रखने का श्रेय मेरे ताऊ जी को जाता है जो एक व्यवसायी होने पर भी बिना चूक के हर माह धर्मयुग, सारिका, कादंबिनी के साथ-साथ बच्चों के लिए पराग, बालभारती, बालक, तथा अन्य पत्रिकाएं लाना कभी नहीं भूलते थे। शायद यही कारण रहा हो लेखन में मेरी दिलचस्पी जागने का। सच कहूं तो मैं बड़ी बेचैनी से इन पत्रिकाओं में आने का इंतजार करता, फिर रात-रात भर जगकर भी इन पत्रिकाओं को पढ़ता रहता। इसके अलावा पुस्तकालय से बहुत सारी हिंदी की पुस्तकें लाकर पढ़ने का सिलसिला बरसों चलता रहा जो आज भी जारी है।

मेरी पहली कहानी 'विल्सन की सीख' सोलह वर्ष की आयु में बालक नाम की पत्रिका में छपी थी और मुझे आठ रूपए पारिश्रमिक के रूप में मिले थे। मोहल्ले में इसकी चर्चा भी हुई। इसके बाद जीवन भर मैंने कोई कहानी नहीं लिखी। अब केवल कविताएं और सूक्तियां आदि लिखता रहता हूं। मुझे याद है कि दुष्यंत कुमार की मृत्यु के बाद सारिका पत्रिका ने उनके लेखन पर एक विशेषांक निकाला था जिसे पढ़कर मुझमें लेखन की तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई, किंतु उन दिनों लिख न सका। पढ़ाई-लिखाई और व्यवसाय में डूबा रहा। बहुत बाद में ठीक से याद नहीं कि किस घटना ने अचानक मेरे भीतर सुलग रही इस चिंगारी को भड़का दिया, जब कविताएं लिखने की धुन तीव्रता से मुझ में सवार हुई।

मैं खाली वक्त में पुराने कवियों जैसे हरिवंश राय बच्चन, दिनकर, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, निराला, नागार्जुन आदि की कविताएं एवं लेख पढ़ने लगा।

तभी मेरा सामना रशियन कविताओं की एक अनुवादित पुस्तक से हुआ जिसका अनुवाद वरयाम सिंह ने किया था। फिर उनसे संवाद हुआ और राय मशवरा भी। उन्होंने आधुनिक समकालीन कविताओं के शिल्प के बारे में थोड़ा बहुत बताया तथा कुछ पुस्तकों एवं लेखकों के नाम भी सुझाए और उन्हें पढ़ने की सलाह दी। फिर तो मेरा संपर्क देश के सारे प्रमुख कवियों से होने लगा जिनमें से प्रमुख अरुण कमल, विष्णु खरे, एकांत श्रीवास्तव आदि हैं, जिन्होंने मुझे महत्वपूर्ण सलाह दी तथा अच्छे लेखन का मार्ग प्रशस्त किया। साथ ही मैं सारे वरिष्ठ कवियों की रचनाएं भी पढ़ने लगा।

मेरे द्वारा लिखी गई प्रारंभिक 20-25 कविताओं की अरुण कमल जी ने बेहद सराहना की थी। उनके निर्देशानुसार मैंने बड़ी पत्रिकाओं में इन रचनाओं को भेजा जहां इनका प्रकाशन भी हुआ। 6-7 वर्षों के अंतराल में मेरे पांच कविता संग्रह भी प्रकाशित हुए। मेरी कविताएं देश की लगभग सारी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। लेकिन अचानक आई कुछ पारिवारिक समस्याओं एवं विवादों के कारण 7 वर्षों तक लेखन बाधित रहा। एक बार लगा कि अब कभी लिख नहीं पाऊंगा, लेकिन अचानक लेखन की रूचि फिर से जागृत हुई। फिर तो यह सिलसिला रुका नहीं, अनवरत चल रहा है।

समय की शिला पर

इसी बीच एक हिंदी राजस्थानी रंगीन पत्रिका का संपादन भी चलता रहा जो अब तक जारी है। अपने लेखन को प्रकाशित करवाने के साथ-साथ दूसरे के लिखे को भी प्रकाशित करवाने में विशेष रूचि रही, जिसके मद्देनजर दो साहित्यिक पत्रिकाओं अभिपुष्प और वनप्रिया त्रैमासिक पत्रिका का संपादन भी शुरू किया, साथ ही दो-तीन अखबारों के साहित्यिक पृष्ठ के संपादन का काम भी संभाल रहा हूँ।

फिलहाल लेखन के रूप में कविताओं को साधने का सिलसिला जारी है। कुल प्रकाशित काव्य संग्रहों की संख्या 12 है। जिनमें से पांच पुस्तकें भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हैं। अच्छी कविताएं लिखना जिसमें कोई दर्शन हो, भावनाओं का वृहद् और तीक्ष्ण संसार हो, जो मर्म को स्पर्श करें, पढ़ने में सुगम हो, ऐसी रचना धर्मिता को महत्व देता हूँ। काव्य एक साधना है जिसमें जब तक एक साधक की तरह आप समर्पित न हो, इसे साधना असंभव है। केवल दूसरों के लिखे को पढ़ने से ही बात नहीं बनती, यात्राएं करना, लोगों से मिलना-जुलना, दुनिया को समझना, समाज को समझना, अच्छी फिल्में देखना, असंख्य अनुभवों को अर्जित करने के बाद ही इस कला में दक्षता प्राप्त हो सकती है। कविता लेखन में नए-नए शिल्प और नए विषयों को लेकर

कविताएँ

पैसा

नाव बंधक रही
जमीन बंधक रही
आदमी तक बंधक रहा
मगर पैसा कभी नहीं

यह आसमान तक उछलता रहा
कभी इस जेब तो कभी उस जेब
एक का तो रहा ही नहीं
हमेशा जगह की
अदला-बदली करता रहा

पैसा तो पैसा है
ऐसा वैसा नहीं
दोस्ती जालसाजों के साथ
खून चूसने वालों के साथ
हत्यारों और राजनेताओं के साथ

प्रयोग करना जरूरी है। घिसे पिटे विषयों पर लिखना पाठकों के लिए रूचिकर नहीं होता और कविता नीरस सी लगती है। मैं कविता में यह प्रयास अवश्य करता हूँ कि पाठक धारा प्रवाह आनंद लेकर मेरी रचनाओं को पढ़ सके। उसे कभी ऐसा नहीं लगे कि वह कोई दुरुह या बोझिल रचना पढ़ रहा है या लेखक की बात उस तक नहीं पहुंच रही है।

मैं अपने आप को एक साधक ही मानता हूँ जिसे लगातार साधना और परिश्रम करते रहना है, अच्छी से अच्छी कविताएं लिखने के लिए। कविताएं ऐसी लिखी जानी चाहिए जो 100 वर्षों के बाद भी पढ़ने योग्य रहे तथा सभी के हित की बात उसमें समाहित हो, सभी के मन की बात उनमें उद्भूत हो।

गद्य मैंने बहुत कम लिखा है। मेरा कुछ गद्य बेटी शैली से वार्तालाप पुस्तक में है, जो की पत्रों की शैली में है। जिसे लोगों ने काफी पसंद किया। एक लेखक की सफलता पाठकों पर ही निर्भर करती है न कि आलोचकों पर। अगर पाठक रचनाकार की रचनाओं को पसंद करते हैं तो यह उसकी सफलता है। मैं अपनी रचनाएं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के सारे संसाधनों का उपयोग कर अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाने का प्रयास करता हूँ। लोगों से मिल रही है अच्छी प्रतिक्रियाएं ही मेरे लिए उपहार होती हैं।

कौन छोड़ेगा इसके साथ दोस्ती

नमक के डिब्बे में छिपे पैसों को
छीन लेते हैं लोग
अब दाल के लिए पैसे नहीं
चावल के लिए भी नहीं

पैसा झोपड़ी तोड़ कर चला गया
छप्पर फाड़ कर गिरा पैसों के ढेर में
ऐसे गले मिला
जैसे इसी से हो
सबसे गाढ़ी दोस्ती

कोई अमीर कैसे

पोते ने दादी से
बड़ी मासूमियत से पूछा

समय की शिला पर

कोई अमीर कैसे बनता है

दादी ने अंटी से सिक्का निकालकर
दिखलाते हुए कहा
इसके सहारे

पोते ने उसे छुआ
मजबूत तो था लेकिन बेहद हल्का
दादी ने स्मृति दिखाया
यह तो और हल्का

पोता ठीक से समझ नहीं पाया
उसकी आतुरता देखकर दादी ने कहा
बहुत सारा, पूरे महल जितना, शहर जितना
केवल एक बोरी अनाज की तरह नहीं
असंख्य किसानों की देह जितना
सिक्के जमा होने पर
बनता है कोई अमीर

पोता कुछ नहीं बोला
समझ गया
उसका पिता नहीं है अमीर
पूरा गांव इसी तरह

तब दादी ने
उसका चेहरा पढ़ते हुए कहा
लेकिन यह बात भी सही
अमीरों के पास
हमारी जैसी खुशियां नहीं

इसलिए तो छीनकर ले जाते हैं
बार- बार हमसे खुशियां

बहुत भले लगे तुम

प्रिय दुकानदार
सबसे सस्ता आईना दिखाना मुझे

सस्ती चूड़ियां
सस्ते जेवर
सस्ती चप्पलें

बस महंगे पर हाथ न रखना
न ही कहना
इन्हें मुझसे खरीदने को
मेरे पास जो पैसे
पहचानते केवल सस्ते को
बड़े विश्वास से
रखे हैं तुम्हारे यहां कदम
बहुत भले लगे तुम

सादगी से भरी तुम्हारी दुकान
कोई कृत्रिम चकाचौंध नहीं
लुभाने वाला साइन बोर्ड नहीं
चप्पल तक नहीं तुम्हारे पांव में
जैसे तुम यहां के
सबसे गरीब दुकानदार
वैसा ही मैं खरीदार

अब मूल्य में न्याय करना
मोल-मोलाई का मौका न देना
मुझे देना है
एक सुंदर उपहार
अपनी मां को
जो मुग्ध करके उसे
बीमारी से ठीक कर दे

भरोसा

गुब्बारे जब तक बंधे थे धागे से
गुलाम थे
अगल-बगल झांकने के सिवा
कुछ भी नहीं कर सके

हवा के झोंके से एकाएक धागा टूटा
सभी बहुत ऊंचा उड़े
उड़ते ही गए
इतने ऊपर
जहां कोई देख भी न सके

हां उसने अंत तक जरूर देखा
जिसके थे वे
आंखें गड़ाकर
हाथ उठा-उठा कर
बुलाने की कोशिश की
दुख में भूल गया
ये पालतू मवेशी नहीं
न ही उसके दास

कुछ इसी तरह सोचते हुए
हाथ मलते हुए घर लौटा

फिर अपने कबूतरों को
भरपेट दाना दिया और प्यार किया
एक ठहरी हुई सांस खींची
इस उम्मीद से कि
इन पर संदेह करना ठीक नहीं

समय की शिला पर

हम तटस्थ हैं

उन्होंने कहा
न हमें नदी से लेना-देना
न ही उसके तट से
हम तटस्थ हैं
इसलिए इसे मैला करके
वापस मुड़कर देखते भी नहीं
इस देश में कोई अपराध नहीं
तटस्थ की भूमिका निभाने में
आप वोट मत दीजिए
आप गवाही मत दीजिए
आप आलोचना मत कीजिए
आप चोरी डकैती होने दीजिए
बलात्कार होता देखकर भी
चुप रहिए
यह कोई अपराध नहीं
क्योंकि आप तटस्थ हैं
तटस्थ होने का आपको लाभ है
आप बच जाते हैं झमेले से
हानि है बहुत बड़ी उनको
जिन्हें न्याय नहीं मिलता
आपकी चुप्पी का गुस्सा
आपके मुंह पर थूक कर नहीं
सजा काटकर निकालते हैं पीड़ित

परिचय:

जन्म: 1 सितम्बर, 1960 जमशेदपुर।

कविताओं की 12 पुस्तकों का प्रकाशन। स्वरचित सूक्तियों पर 3 पुस्तकें, शिक्षा सम्बन्धित 4 पुस्तकों का प्रकाशन।

इंडिया टुडे, आउटलुक, हंस, वागर्थ, आलोचना, परिकथा, जनसत्ता, कथन, कविकुंभ, वर्तमान साहित्य, दोआबा, दस्तावेज, नवनिर्देश, दैनिक जागरण, प्रभात खबर, बहुमत, ककसाड़, दैनिक भास्कर आदि अनेक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित।

विगत 11 वर्षों से रंगीन पत्रिका 'मस्तर के स्वर' का सम्पादन। साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका 'अभिपुष्प' एवं 'वनप्रिया' के संपादन में भी योगदान।

घुमक्कड़ वृत्ति। अब तक 15 देशों की यात्रा कर चुके हैं। निजी पुस्तकालय में साहित्य एवं अन्य विषयों पर करीब 5000 से अधिक पुस्तकें संग्रहीत।

सम्पर्क-35, रोड न. 2, कगालनगर, सोनारी गुरुद्वारा के पास, जमशेदपुर-831011, झाड़खण्ड, मो. 9334825981

संबंधों की सफलता

रस्सी जोर से खींचने पर
टूट जाती है
फिर इस पर गांठ लगती है
हर टूटन पर
गांठ ही गांठ
कभी इसका टूटना बंद नहीं होता
न ही गांठ लगाया जाना
यह बनी ही है खींचने के लिए
टूटने और जुड़ने के लिए
ताकत इसकी कभी कम नहीं होती
मैं भी बंधा हूँ
संबंधों की असंख्य रस्सियों से
जो टूटती रहती
लगाता रहता हूँ गांठ
जब तक है जीवन
इनमें गांठ लगाता रहूंगा
संबंध नहीं तोड़ूंगा किसी से
यह रस्सी हमेशा अदृश्य
इसमें लगी गांठ का
दिखाई न देना ही
सफलता है संबंधों की

मेरी गज़ल यात्रा

- नूर मुहम्मद 'नूर'

जन्म, 17/08/1952, गांव, महासन, डाक, महुअवा कारखाना, जनपद,, कुशीनगर, उत्तर प्रदेश

कविता, कहानी, गजलों की अब तक पांच पुस्तकें प्रकाशित, हिंदी की तमाम छोटी बड़ी पत्रिकाओं में अबतक पांच हजार से भी अधिक, विभिन्न विधाओं की रचनाओं का प्रकाशन, साहित्य में मेरी शुरुआत कहानियों, लघुकथाओं, कविताओं से हुई थी,, गज़लें तो बहुत बाद में मैंने कहनी शुरू की थी,, लेकिन मुशायरों में मैं तब नज़्म सुनाया करता था,, लंबी लंबी नज़्मों जो मुझे याद भी रहती थीं, इनके पाठ के लिए ही मुझे बुलाया जाने लगा था,, तब मैं कालेज में था,, जहां मुझे डॉक्टर शरण बन्धु का सानिध्य मिला और मुझमें निखार आने लगा,, उन दिनों वे अपना शोध तैयार कर रहे थे, वे हमें कमर्शियल हिंदी पढ़ाते थे,, गज़लें मुझे घेरने लगी थीं,, दुष्यंत की गज़लों का शोर चारों ओर व्याप्त था,,

शेरगोई मैं भी शुरू कर चुका था अबतक,, इल्मेउरुज की कई किताबें भी अब मेरे अध्ययन में थीं,, फिर कई उस्ताद शायरों की संगत भी की,, निरंतर उनके संपर्क में रहा फिर मेरी फन उनका, उनसे फन सीखता रहा,, लेकिन गज़ल के मेरे पहले उस्ताद शलभ श्रीराम सिंह थे,, बाद के दिनों में कई एक पत्रिकाओं में हम साथ साथ छपे भी,, दुर्गा प्रसाद परदेशी, समर आरवी, कैसर शमीम, साज लखनवी, कासिफ अंसारी, सईद ए, जीलस, वगैरा वगैराह,, उन्हीं दिनों कुछ गज़लें कहीं थीं, जिन्हें सुनने के बाद शरण बंधु सर ने अपने शोध में शामिल कर लिया,,

शादी हो चुकी थी मेरी,, नई नवेली दुल्हन घर में और मैं उसे तन्हा छोड़ गज़लघर में समाया हुआ था,, शेर उतर रहे थे और मैं उन्हें कटी पतंगों सा लूट रहा था

हमारा खून, तुम्हारी शराब क्या मतलब

गरीब जिस्म अभी तक कबाब, क्या मतलब,,

तुम्हारे घर में उजालों का रक्स होता है

हमारे घर में अंधेरे नवाब क्या मतलब,,

संघर्षों के दिन थे,, वालदैन गांव जा चुंके थे यहां कलकत्ते में सिर्फ मैं और पत्नी,, नौकरी अभी नहीं हुई थी,, दिहाड़ी कर किसी तरह घर चला रहा था,, पत्नी के सपने और अरमान बहुत थे,, और मेरा संघर्ष अंतहीन जैसे,,

बिछी हुई है नज़र रोटियों के रस्ते में

जहां से लाऊं नज़र तेरी रहगुजर के लिए,,

सरगम के सुर साधे

रोटी पहाड़ होती चली जा रही थी और मैं उसकी चोटी पर पहुंचने के लिए गजलों की सीढ़ियां भर मानों बना रहा था,,, गज़लें कम और नाम भर थोड़ा सा कमा पा रहा था,,,,,

तो कमाई के नाम पर बस गज़लें थीं जिनसे कुछ और भले भर जाता हो, पेट नहीं चल पाता था। वैसे भी ये बैठे ठआले का ही काम था, जिससे अन्य कोई भी काम नहीं चल पाता था,,,

नूर तुम अच्छी तरह जानो गज़ल से कुछ न होगा काम है फिर भी यही माकूल आखिर बात क्या है मंदिरों मस्जिद लड़ाए जा रहे, क्या हो रहा है बंद होते जा रहे स्कूल आखिर बात क्या है?

समय बहुत तेज़ी से निकल रहा था, सूरतें लगातार बदलती रही,,,

वालदैन, पत्नी, बच्चे, नौकरी,,, मैं खुद और मेरा लेखन, एक विहंगम चलाएमान दृश्य,,,

अब चार सौ गजलों के साथ ही चार चार बच्चों की बारी थी,,, न गज़लें चैन लेने देती न बच्चे,,, नौकरी और पत्नी की मुश्किल,,, उधर वालदैन,, इतना सारा, संसार अकेले संभाल रहा था, गज़लें लेकिन मेरा दामन थामे रहीं मैं जीता और लड़ता रहा,,

वैसे मैंने जो गज़लें कहीं/लिखीं वो नाकाफी, लेकिन वो काफी भी नहीं हैं, ये मैं जानता हूं, बातों/विचारों की शक्ल में जो मैंने लिखा, कहा वो पढ़ा सुना ज़रूर गया लेकिन गुना नहीं गया। वो समझा और अमल में नहीं लाया गया। तमाम इशारे अनदेखे अनसुने असमझे रह गए,,, शायद विचार और इशारे दोनों ही कमज़ोर थे और अनाकर्षक भी। मैं ये मानकर चलता हूं कि दुनिया में कुछ भी सम्पूर्ण नहीं होता,, मुमकिन है इन रचनाओं में कुछ और अन्य कमियां भी रह गई हों। और हों भी क्यों नहीं, मैं तो इन तमाम कमियों कमजोरियों के बीच और साथ ही

शब्दों की दुनिया में आया। यूं बार बार महसूस हुआ कि जो कर गुजरना था वो तो बहुत कम किया ही, शायरी भी बहुत कम की यानी लफ्फाजी ज्यादा। यानी शायर कम लफ़ज़गर ज्यादा,,, अर्थात्,,,,,

वो बहरे हैं लेकिन गजल सुन रहे हैं
मैं गूंगा हूं लेकिन गज़ल कह रहा हूं।

गज़ल-चार

थे तिश्नगी के सबब आबदान पहले भी
हां, बारिशों में जले हैं मकान पहले भी

ये पहली बार धुंआए नहीं मेरे अशआर
मैं दे चुका हूं सुलगते बयान पहले

वो धूल झाड़ लहू पोछता उठेगा फिर
उठा है राख से हिंदोस्तान पहले भी
जमी के दर्द पे लोगो के कतलोगारत पे
खमोशलब था मुआ आसमान पहले भी

ये तेरे हाथ थे, सर थे, तेरे अंगूठे थे
कटी है नूर तुम्हारी जुबान पहले भी
पांचवी और आखिरी गज़ल,,,,

कल के सपनों, कल की सुबहो की ढेरों तस्वीर लिए
हम पर्वत पर्वत टकराएं शीशों की तक्रदीर लिए

क्या पूछे तुम हाल हमारा घट घट के बंजारे हम
घूम रहे हैं बस्ती बस्ती, पीड़ाएं गंभीर लिए

खाली खाली बर्तन लेकर पंघट पंघट लोग फिरें
मन में विपदाओं की हलचल नयन कटोरे नीर लिए

मरने वाले कदम कदम पे रोज़ रोज़ ही मरते हैं
जीने वाले जी जाते हैं आहों में तासीर लिए

तुम भी अपनी नज़में गज़लें लेकर नूर चले आना
जब कल हम भी रक्सा होंगे सांसों पे शहतीर लिए

सरगम के सुर साधे

गज़ल - 1

बेमुल्क हो रहा है जो हिंदोस्तान मे
हर पल समा रहा है मेरे जिस्मोजान में
औंधे पड़े हुए हैं हर इक मोर्चे पे हम
औ, झंडे उड़ रहे हैं गज़ब आसमान में
भाषा तो खैर आपकी दुमदार हो गई
क्या आग भी नहीं है ज़रा सी जुबान में
कुछ इस तरह से लोग दिले रहनुमा में हैं
जूं गंदगी भरी हो किसी नाबदान में
गिरते हो बार बार अंधेरे में नूर तुम
अब भी कहीं कमी है तुम्हारी उड़ान में
दो चार गजलें और भी भेज दें, आराम से
और मूड से बहुत जल्दी में न सही।

गज़ल - 2

इस सदी सी बेहया कोई सदी पहले न थी
इस क्रदर बेआब आंखों की नदी पहले न थी
अब तो यमुना के किनारे भी बहुत सुनसान हैं
कृष्ण! तेरी बांसुरी, यूं बेसुरी पहले न थी
पांव रखें तो कहां रखें, बताएं, हुज़ूर
आपकी धरती तो इतनी दलदली पहले न थी
क्या कहें इसको तकाज़ा वक्त का या और कुछ
दोस्तों के साथ ऐसी दुश्मनी पहले न थी
मसलेहत तो है यकीनन, जानते हैं आप भी
वरना जैसी आजकल है, शायरी पहले न थी

गज़ल - 3

बस्तियों में सर छुपाने को ठिकाना ढूंढना
बंजरों में पागलों सा आबो दाना ढूंढना
जिस तरह सहारा में पानी ढूंढते हैं तिश्नालब
दोस्तों के बीच रहकर, दोस्ताना ढूंढना
आदमी में आदमियत और खुशबू फूल में
हो सके तो शहर मे अब ये खज़ाना ढूंढना
शेर कहना अब अदब के वास्ते ऐसा लगे
जैसे गुंगों के लिए कोई तराना ढूंढना
ढूंढते, समकालीन तेरे ही तो मक़तल में पनाह
नूर तुम लफ़्ज़ों मे तेवर कातिलाना ढूंढना

गज़ल - 4

थे तिश्नगी के सबब आबदान पहले भी
हां, बारिशों मे जले हैं मकान पहले भी
ये पहली बार धुआए नहीं मेरे अशआर
मैं दे चुका हूं सुलगते बयान पहले भी
वो धूल झाड़ लहू पोछता उठेगा फिर
उठा है राख से हिंदोस्तान पहले भी
जमी के दर्द पे लोगों के कतलोगारत पे
ख़मोशलब था मुआ आसमान पहले भी
ये तेरे हाथ थे, सर थे, तेरे अंगूठे थे
कटी है नूर तुम्हारी जुबान पहले भी

संपर्क : गाँव : महासन, पोस्ट : महुआवा कारखाना, जिला: पूसीनगर, उ. प्र. - 270003 मो. 7044368875

पिता की लाश रखी थी आँगन में। माँ जार-बेजार रो रही थी, छाती पीट रही थी। गाँव लोगों की भीड़ लगी थी। औरतें माँ को संभाल रही थीं। चाचायाँ, चाचा लोग, बड़ी बुआ, छोटी बुआ सब हतप्रभ थे। किसी को कुछ समझ नहीं आ रहा था। इतना अप्रत्याशित था उनका जाना कि किसी को विश्वास नहीं हो रहा था कि आदमी ऐसे मरता है। सचमुच भगवान के घर में सब का दाना-पानी तय है, कोई कितना सोच ले, होता वही है, जो ऊपर वाले ने लिख रखा होता है। अभी कल तक तो कितना हँस-बोल रहे थे पिता। कह रहे थे इस साल संजीत मैट्रिक पास कर ले, फिर सुमित... फिर डाली बिटिया का धूम-धाम से विवाह करेंगे वह भी पढ़े-लिख लड़के से... फिर पक्का मकान बनाएँगे... अभी मुश्किल समय है तो क्या हुआ... जब बच्चे सैटल हो जाएँगे, तो समय बदल जाएगा..जीवन नाम है उतार-चढ़ाव का... कभी घी घना... कभी मुट्ठी भर चना... सपनों का एक सुनहरा लोक फैला कर दुख की कथरी सीने में वे माहिर थे...

मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। सुमित हैरान था, उसके आँसू सूख गए थे। डाली माँ से चिपकी हुई रो रही थी। लोग दौड़-भाग कर रहे थे। लाश को अब जलाना था। घाट ले जाना था। खाली रोने-धोने सो काम नहीं चलेगा। सब इन्तजाम करना होगा। लकड़ी, गाड़ी, पाँच टूक कपड़ा...माँ को रिश्तेदार उठा कर ले गए, जो होना था हो गया... जी को कड़ा करिए... रोने-धोने से कोई लौटता नहीं...क्रिया-कर्म कैसे होगा आगे यह सोचना है...'

पिता अब लौटेंगे नहीं... धक से लगा। अब हम लोगों को ऐसे ही रहना होगा। कोई पिता की तरह दुख-सुख नहीं बाँटेगा... बिना छाया के तपती धूप में रेत पर चलने जैसा खयाल था यह... जो मुझे निस्संग कर गया। माँ घर के अंदर गयी। बक्सा खोल कर कुछ रु. ले आयी। चाचा के हाथ में रख दिया...

'इससे क्या होगा ? पाँच हजार तो गाड़ी वाले लेंगे... फिर घाट पर खर्चा होगा...' उन्होंने दबी आवाज में कहा। माँ ने उत्तर में कुछ उनसे कहा। वे अपने घर की ओर गए...

...यह सब क्या हो रहा है...? मेरा कंठ सूख रहा था। लोग बिना कहे, कुछ-कुछ करते जा रहे थे। दरवाजे पर बाँस की चचरी बन रही थी। पिता अपनी अंतिम यात्रा इस तरह करेंगे ... यह सोचना भी अकल्पनीय था। ऐसा लग रहा था कि दुनिया के मेलों की भीड़ में अचानक साथ छोड़ दिया हो.... चाचा मुझे कुछ कह रहे थे....मैं उनके पास गया, तो वे कुछ कुछ कहते-कहते भीग गए,' अब तुम्हें ही सब करना है... सुनो देर करने से अँधेरा हो जाएगा...दस तो बज गए... समय लगेगा घाट पर जाने में फिर शव-दाह में भी समय लगता है....'

मैं क्या कहता। मेरे पास शब्द नहीं थे। बस दुख की एक नदी हहा रही थी सुबह से। वे खेत से घूम- फिर कर आए। चाय पी। लुढ़क गए कुर्सी से। हम जब तक दौड़ कर आए... वे बिना समय दिए जा चुके थे...

कहानी

लोगों ने राम नाम के जयकारे लगाए। पिता को उठा कर गाड़ी पर डाला गया। हम दोनों भाई भी उनकी बगल में बैठ गए। फिर गाँव के बहुत से लोग। पंडित और नाई... पिता को लाल कपड़े से लपेट दिया गया था। मैं बार-बार पिता के मुँह को देख रहा था। मुझे लग रहा था जब ट्रैक्टर चलेगा... वे उठकर जाग जाएँगे फिर मुझे और सुमित को पकड़ कर सपने का जाल बुनने लगेंगे....' ट्रैक्टर चला, तो माँ लपट-झपट कर रोने लगी...पर पिता ने किसी की ओर नहीं देखा, कितना भी रोओ मरने वाले को क्या... वह अगम के पार जा चुका होता है...

रास्ते में लोग निरगुण गा रहे थे- कोई कुछ कर ले, विधि का यह लेख मिट नहीं सकता...जीवन का सत्य है मृत्यु। माया-मोह का बंधन है संसार। यहाँ का सब यहीं रह जाता है...

चार जणा मिल गजी बनाई,
चढ़ा काठ की घोड़ी,
चार कोने आग लगाई,
फूंक दियो जस होरी,
जगत में कैसा नाता रे

करीब चार बजे हम लोग घाट पर पहुँचे। चाचा और ट्रैक्टर ड्राइवर में कुछ बातकही हो गयी। चाचा ने कुछ पैसे को लेकर। लोगों ने अलग किया। ड्राइवर कह रहा था, 'समझिए फ्री में मुर्दा ले आए... वाजिब भाड़ा में भी आना-कानी... कितना जवाब दें...एक पैसा नहीं लूँगा.... जिस काम से आए हो, पहले वह करो....'

चाचा तेल के हिसाब पर बिफर रहे थे। ड्राइवर ज्यादा बता रहा था किलो मीटर की दर... पिता अगर नहीं मरते, तो यह झगड़ा ही क्यों होता... मुझे हर चीज से विरक्ति हो रही थी। घाट पर लकड़ी की खरीद में दलाली चल रही थी। चाचा हर खर्चे में मुझे साथ रख रहे थे। लेकिन मैं अनासक्त सा था। घाट पर कई चिताएँ जल रही थीं। लोग उन चिताओं को जलाने में व्यस्त थे। चाचा मुझे लेकर एक काठ के घर में गए, जहाँ रुपये देकर पर्ची कटायी गयी।

अब शव-दाह के लिए जगह मिल गयी थी। पिता कहते थे पैसा आज के समय का सच है... बिना पैसा के जीवन का कोई मोल नहीं... तुम लोगों पर ही उम्मीद है... पढ़-लिख कर अफसर बनो... खूब पैसे कमाओ... गरीबी भगाओ... कुल-खानदान का नाम रौशन करो....

घाट पर शव जलाने की अंतिम अनुमति के लिए डोम राजा पाँच हजार माँग रहे थे। चाचा लोग उसे मना रहे थे। आखिर हजार एक में बात बनी। मैंने ध्यान से उसे देखा। उसके बाल बड़े थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। वह कह रहा था, 'राजा हरिश्चन्द्र को भी श्मशान का टैक्स चुकाना पड़ा बाबू! आप लोग काहे किच-किच करते हो...मरने वाले की आत्मा दुखी होगी... पूरा जीवन कमाया और तुम लोगों को दिया... अब दो-चार हजार में हुज्जत करते हो... कोई क्या लेकर आता है और क्या लेकर जाता है...तुम्हीं बताओ... सब यहीं रह जाता है धरम - करम....' वह ऊँची दार्शनिक बातें बोल रहा था, पर उसकी आँखों में लोलुपता झलक रही थी... वह शराब भी पीये हुए था। आखिर उसने आग दी....यही चलन है डोम की आग से ही संस्कार होता है यहाँ। श्मशान का राजा डोम को माना जाता है। बिना अनुमति की अन्त्येष्टि नहीं हो सकती। यहाँ उसका कानून चलता है....

पंडित ने हम दोनों भाइयों को गंगा में नहाने कहा। हम नहा कर आए, तो हमें सफेद धोती पहनायी गयी। उसी कपड़े को फाड़ कर जनेऊ दिया गया। फिर डोम द्वारा दी गयी आग उठाकरपाँच बार नहला-धुला कर नवल-धवल वस्त्र बनाकर चिता पर रखे पिता के शव की प्रदक्षिणा करवायी गयी। फिर मंत्र-पाठ के साथ चिता में मैंने आग लगा दी... सुमित फफक पड़ा, पर लोगों ने कहा, 'श्मशान में रोना मना है... इससे आत्मा को मुक्त होने में बाधा पड़ती है। यह संसार नश्वर है... इसकी यही रीत है ...आओ-जाओ... कोई किसी का नहीं है इस संसार में...'

कहानी

मैंने आँखें बंद कर लीं। आग लहक रही थी। पिता की फूल जैसी काया चिटक रही थी। कुछ समय बाद पिता की काया विलुप्त होकर ब्रह्मलीन होने वाली थी। अचानक मुझे माँ का ध्यान गया... वह न जाने किस हाल में होगी, क्या सोच रही होगी...? पिता किसी के खोजने से अब नहीं मिलेंगे... घंटों मशक्कत के बाद पिता आखिर जल गए... हम दोनों भाइयों को फिर स्नान कर पिता की चिता को बाल्टी से जल डाल कर बुझाने को कहा गया। चिता जब बुझ गयी, तो एक मिट्टी के पात्र में अस्थि संचय कर गंगा में प्रवाहित करवाया गया। फिर पिंडी को गंगाजल और गाय के गोबर से लीप कर ऊपर तुलसी लगायी गयी...

इसके बाद सब लोगों ने गंगा में डुबकी लगायी। फिर घाट पर लौट आए। अब भोजन की बारी थी। चाचा ने सबके लिए पहले ही दुकानदार को पूरी, सब्जी और जलेबी का आर्डर दे रखा था। मुझे और सुमित को खिलाने की जिम्मेवारी दी गयी ताकि पिता की आत्मा को पैठ मिले... मुझे थकान हो रही थी और त्रास भी... मरने वाला तो चला गया फिर यह कर्म-कांड क्यों? पिता कर्म-कांडों की आलोचना करते थे। कहते थे शादी-ब्याह और मृत्यु-भोज की जगह यह पैसा घर-परिवार के भविष्य निर्माण पर लगाना चाहिए... पैसे के मामले में पिता हमेशा अभाव में रहे। अब उन्हीं के नाम पर सब हो रहा था... रह-रह कर मेरी आँखों में डोम राजा का चेहरा घूम रहा था, मरने पर आग भी खरीदी जाती है... यह सोच कर मुझे अचरज हो रहा था... साथ ही रोष भी... हम यहाँ दुखी हैं... पर अब लोग दूसरी-तीसरी बात कर रहे हैं...

चुनाव का समय है, लोग टिकटों के बारे में पूछ रहे हैं, कयास लगा रहे हैं किस दल का पलड़ा भारी है... हाय रे दुनिया...! मेरे दिमाग में निरगुण की पंक्तियाँ घूम रही हैं... पिता अब निरगुण ... निराकार हो गए... वे इस बहस में कहीं नहीं हैं... पहले भी नहीं होते थे... उनकी अपनी फितरत थी... मैंने सिर को झटका दिया। मुझे मितली आ रही थी।

....

हम देर रात को घर लौटे। घर से रोने की आवाजें आ रही थीं। औरतें जगी थीं। ट्रैक्टर लगा तो उतरते ही हमें पत्थर-पानी का स्पर्श कराया गया। मिर्ची खाने को दी गयी ताकि प्रेत वहीं से लौट जाए। मरने के बाद जीवात्मा के प्रति यह व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगा। माँ को देख कर मेरी इच्छा हुई मैं लिपट कर रोऊँ... पर मुझे अलग बिस्तर कम्बल और चाकू और छड़ी दी गयी... सब थके थे अपने-अपने घर चले गए। मैं सारी रात पिता के बारे में सोचता रहा। श्मशान मेरी आँखों में घूमता रहा। रात के अंतिम पहर ऐसा लगा पिता सपने में आए और बोले, 'संजीत अब तुम्हारे कंधे पर सुमित, डाली और माँ की जिम्मेवारी है... लोग बहुत कुछ कहेंगे, पर खेत बेच कर दान-पुण्य और भोज-भात में पैसे मत लगाना... इन सब से मुझे मोक्ष नहीं मिलेगा... मेरी मुक्ति तो तब होगी जब तुम लोग मेरे सपने को पूरा करोगे...'

मेरी नींद खुल गयी... मैं भरम गया था शायद!

...

सुबह से लोग आने लगे। कैसे क्या होना है। पंडित को खबर हुई। वे आ गए। महापात्र आ गए। चाचा लोगों के साथ गाँव-समाज के आदरणीय। ग्यारह पंडित हो कम से कम। मुख्य पंडित ने दान के लिए लिस्ट लिखवायी। कहा- दो गाएँ दान हों। मुख्य पंडित यानि वह पाँच हजार एक रु. लेंगे ... बाँकी ग्यारह को इक्कीस सौ-इक्कीस सौ दान करें...

चाचा ने कहा- ग्यारह सौ कर दें... भोज-भात का भी तो खर्च है ...

पंडित जी बिगड़ गए-सही-सही श्राद्ध हो, तो कोताही मत कीजिए... आत्मा के मोक्ष के लिए यह सब करना होगा...'

मैं उठ कर माँ के पास गया, 'यह सब क्या चल रहा? पैसे कहाँ से आएँगे?'

माँ ने कहा, 'जबान सी लो। चुप रहो। हो रहा है जो..होने दो... अभी बच्चे हो समाज से बिगाड़

कहानी

मत करो कुछ बोल कर... रहना है इन्हीं लोगों के बीच... आगे राम मालिक....'

मैं लौट आया। श्राद्ध के बहाने पिता के सपनों को लूटा जा रहा...है और हम कुछ नहीं बोलें? आत्मा पर बोझ रख कर सब सुनता रहा...

कुछ दिन और बीते । फिर कर्म -कांड शुरू हुआ। मुझे विरक्ति होती रही। दिन भर पिंड दान, सेज्या दान, मंत्र-पाठ ... रात में भोज... भोज के बाद पचासों कुते पतल चाटते हुए भूकते-गुराते... अजीब खेल ... मरने वाला होता, तो वह भी विरक्त हो जाता। पिता की आस्था कभी थी नहीं इन चीजों पर। वे प्रगतिशील सोच के थे, पर सब हो रहा था...

श्राद्ध के बाद माँ ने बताया तीन बीघे खेत बिके। मैं फटी आँखों से ताकता रहा, फिर कहा, 'मैंने मना किया था, पर...'

'भूल जाओ, हम गरीब थे, थोड़ा और गरीब हो गए...' माँ ने कुछ विलम कर कहा।

'यह सब बंद होना चाहिए, कुरीति है यह... कोई पैठ-वैठ नहीं होती...' मैंने भड़ास निकाली। मेरा गुस्सा सुलग रहा था, 'मैं इसका विरोध करूँगा...'

'पहले अपने पैर पर खड़ा हो जाओ...' माँ का निर्णय ठोस था।

'ठीक है।' मैं वापस दरवाजे पर आ गया। अनमनेपन के बीच एक किताब पढ़ने लगा-ज्ञान आत्मा का प्रकाश है, जो विचार बाँधे वह बंधन है, बोझ है, जो मुक्त करे वह ज्ञान है, आत्मा का प्रकाश है, आत्मा के प्रकाश को खोजना धर्म है। यही अन्वेषण ईश्वर तक ले जाता है... बाँकी सब ढोंग है, नाटक है, दिखावा है...नश्वर है ...मैंने किताब को उलट-पलट कर देखा, लिखा था -ज्ञान की खोज...बगल में पिता का हस्ताक्षर था। पिता मैं एक इनर सेंस था। वे सचमुच बहुत मामले में लोगों से अलग थे। मैं देर तक उनके बारे में सोचता रहा... पर अब सोचने से भी क्या फायदा था। बात बीत चुकी थी, जो होना था हो गया था। माँ शायद सही थी...

...

इसके बाद हमने पलट कर नहीं देखा। कठोर परिश्रम के साथ अपने अभाव को बदलने में लग गया। मैट्रिक पास करने के बाद सुमित को लेकर शहर में आ गया। पिता की कही बातों को हमने संकल्प बना लिया। समय लगा। लोगों के व्यवहार बदले। हमारे और खेत रेहन चढ़ गए, पर हमने अपने समय को बदला। हर चोट, हर दर्द ने हमें और अनुभव संपन्न बनाया। आज हम दोनों भाई अपने पैर पर खड़े हैं। वह डॉक्टर है। मैं प्रशासन में। डाली अपने हस्बैंड के साथ कतर में रहती है। माँ मेरे पास शहर आ गयी थी। गाँव की बची-खुची जमीन लीज पर लगा दी गयी थी। वह खुश थी। कभी गाँव जाने की जिद करती थी, तो कभी सुमित को पास। वह फोन पर डाली से बात करती रहती थी। नाती-पोतों का सुखी संसार था उसके पास। काश! पिता यह सब देख पाते। लम्बी आयु जीने के उपरांत शहर में मेरे पास रहते हुए माँ की मृत्यु हुई। विद्युत शव-दाह गृह में उन्हें जला कर हमने गंगा स्नान किया। माँ का श्राद्ध नहीं करने का फैसला किया है। हाँ कुछ राशि उनके नाम पर अनाथालय में देने का विचार है... गाँव में एक अस्पताल भी खोलने की बात चल रही है। हम सब गाँव आए हुए हैं। सब आदरणीय लोगों को बुलाया गया है। अपने मन की बातों से अवगत कराया गया है उन्हें। सब सहमत हैं... मुझे लग रहा है मेरी आत्मा पर से बोझ उतर गया है...हम अपने गाँव-समाज के खिलाफ नहीं हैं... सड़ी-गली मान्यताओं की शल्य-चिकित्सा हो... बस यही कामना है! हमने श्रद्धांजलि सह प्रसाद का एक छोटा सा कार्यक्रम रखा है, लोग हमें सराह रहे हैं...तारीफ कर रहे हैं। शादी-ब्याह और मृत्यु भोज करते हुए बहुत से परिवार गरीब हो गए। यह सब रूकना चाहिए... यही कोशिश है हमारी...मुझे लग रहा है पिता हमारे खयालों के पीछे से मुस्कुरा रहे हैं...

संपर्क : प्रिंसिपल, डी.एस. कॉलेज कटिहार-854105, बिहार, मो. 9431867283/6207582597

अखबार खोलते ही पहले पृष्ठ पर उनके चित्र के साथ दस पंक्तियों का समाचार था। चित्र में वह अकेले नहीं थे। दो व्यक्तियों के बीच खड़े वह मुस्करा रहे थे। मुस्कुरा उनके दायें-बाएं खड़े दोनों व्यक्ति भी रहे थे। तीनों के हाथ में उनका सद्यः प्रकाशित खंड काव्य 'गांधारी' की प्रति थी, जिसका लोकार्पण हिन्दी भवन में किया गया था। उनके बाईं ओर किशोरी दास फाउंडेशन के निदेशक चंपक लाल और दाईं ओर केन्द्रीय शिक्षा मंत्री दीपक पाराशर थे। किशोरी दास फाउंडेशन कोलकाता के बड़े उद्योगपति किशोरी दास के पोते गोपालदास की संस्था थी जिसे उन्होंने अपने दादा के नाम से साहित्य और संस्कृति को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित किया था। संस्था प्रतिवर्ष हिन्दी साहित्य के लिए गद्य और पद्य के लिए दो पुरस्कार और एक गैर हिन्दी भाषा के लिए देती थी।

किशोरी दास साहित्य प्रेमी नहीं थे, वह विशुद्ध व्यवसायी थे। चंपक लाल के सुझाव पर फाउंडेशन का पदेन अध्यक्ष केन्द्रीय शिक्षा मंत्री को बनाया गया। जो भी शिक्षा मंत्री बनाता वह संस्था का अध्यक्ष बनता। उसे हर पुरस्कार समारोह में बुलाया जाता। लेकिन उनकी पुस्तक के लोकार्पण में शिक्षा मंत्री — समाचार का शीर्षक — 'केन्द्रीय शिक्षा मंत्री द्वारा वरिष्ठ साहित्यकार नवीन कुमार के खंड काव्य का लोकार्पण' पढ़ते ही वह सोचने लगे।

देर तक अखबार हाथ में लिए वह इसी विचार में डूबे रहे।

समाचार ब्लॉक में था। लिखा था कि कार्यक्रम में शहर के गणमान्य साहित्यकारों के साथ आमजन की भी उपस्थिति थी। लगभग दो सौ लोग थे। दोपहर के भोजन की व्यवस्था थी। बुलाया उन्हें भी गया था। उनके पास मेल आया था निमंत्रण का। उन्होंने कार्यक्रम में जाने के बारे में सोचा भी था, क्योंकि मिलने पर नवीन कुमार कई बार उन्हें अपने निवास पर आने के लिए कह चुके थे। उन्होंने शिकायती स्वर में कहा था, "देश के कोने-कोने से लोग दिल्ली आते हैं तब मुझसे मिलने अवश्य आते हैं। यही नहीं विदेश से आने वाले हिन्दी साहित्यकार भी आते हैं। लेकिन आप—" नवीन कुमार ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया था। प्रायः वह सोचते कि ऐसा क्या लिखा है नवीन कुमार ने जो लोग उनसे मिलने जाते हैं। उनकी कविताएं उन्हें कभी प्रभावित नहीं कर सकीं। यह तो कवि मित्र तरुण करुण ने बात चलने पर बताया, "नवीन कुमार का आतिथ्य लोगों के आकर्षण का कारण होता है। बहुत धनी व्यक्ति हैं वह। राज्य सरकार के फलवान विभाग से कमिश्नर पद से अवकाश ग्रहण किया है। इस पद से अवकाश ग्रहण करने वाले व्यक्ति के बारे में तुम सोच सकते हो।"

"सुना है कि ऐसे पद दुधारू गाय होते हैं। जितना चाहो दुह लो।"

"नवीन कुमार ने भी खूब दुहा उस गाय को—प्रकाशकों से लेकर संपादक तक उपकृत हैं। हर साल चार-पाँच किताबें छपती हैं उनकी।"

नवीन कुमार से उनका परिचय मात्र इतना था कि एक कार्यक्रम में वह उनके साथ मंच पर थे। नवीन कुमार कविताएं लिखते हैं जबकि वह कथाकार हैं। वह उनके उनके गाँव के पास के एक गाँव के हैं। नवीन कुमार ने उसी इंटर कालेज से हाई

कहानी

स्कूल किया था जहां से उन्होंने इंटरमीडियट। पहली मुलाकात के बाद से नवीन कुमार के हर कार्यक्रम की सूचना उन्हें मिलने लगी थी।

दस पंक्तियों के उस समाचार को पढ़ने में उन्हें जितना समय लगा उतने समय में वह पूरा पृष्ठ पढ़ लिया करते। लेकिन वह समाचार ही ऐसा था। एक साहित्यकार की पुस्तक के लोकार्पण का समाचार संवाददाता ने इतने मनोयोग से बनाया था कि उसने उन दस पंक्तियों में उनकी और उनके साहित्य की प्रशंसा में पांच पंक्तियाँ लिखी थीं। नवीन कुमार की ईमानदारी, विनम्रता, सहृदयता, सदाशयता, व्यवहार कुशलता—लेकिन जिस बात ने उनका ध्यान सर्वाधिक खींचा वह थी उनकी पुस्तकों की संख्या। उस वर्ष प्रकाशित होने वाली वह उनकी तीसवीं पुस्तक थी। उस वर्ष प्रकाशित उनकी पुस्तकों में उनके दो खंड काव्य, दस कविता संग्रह, लघुकथा संग्रह, बच्चों की पुस्तकें और पाँच संग्रह विदेशी कवियों की कविताओं के अनुवाद की थीं। उन्हें याद आया कि एक साल पहले उनकी एक कहानी और नवीन कुमार की एक कविता एक पत्रिका के एक अंक में प्रकाशित हुई थी। उस समय उनके परिचय में नवीन कुमार की पुस्तकों की संख्या बहत्तर थी, समाचार के अनुसार अब एक सौ दो हो चुकी थी।

अखबार एक ओर रख उन्होंने तस्लम करण को फोन किया और समाचार के बारे में बताया।

“मैं पढ़ चुका हूँ”, करण बोले।

“नवीन कुमार एक साल में इतना कैसे लिखा लेते हैं?”

“जरूरी है कि वही लिखें।”

“मतलब?”

“मुद्रा की महिमा वैभव।”

“मैं समझा नहीं तस्लम?”

“हिन्दी साहित्य में इन दिनों बड़े खेल हो रहे हैं। धन के बल पर लोग रात-रात में लेखक बन रहे हैं। फिर नवीन जी तो पहले से ही घोषित कवि हैं। लिखा भी है। अब उन्हें भी खेल समझ आ गया है। मुद्राकांक्षी उनके दरवाजे की धूल माथे लगाने के लिए हर दिन उनके यहाँ उपस्थित रहते हैं। वह उसका लाभ क्यों न उठाये!”

“ऐसा भी होता है?”

“हो रहा है। कोविड ने प्रकाशन की दुनिया बदल दी है। तुम्हारी अंतिम पुस्तक कब आई थी?”

तस्लम के प्रश्न से वह अचकचा गए। सोचने लगे कि कब आई थी। 2019 या 20 में। अंततः याद आया कि अंतिम उपन्यास उन्नीस में आया था। उसके बाद कुछ नहीं। फुटकर कहानियाँ पत्रिकाओं में छपीं, संग्रह छपने को तैयार है लेकिन जिस भी प्रकाशक से वह बात करते हैं वह पहले छापने से इनकार करता है, तैयार हुआ तो चालीस पचास प्रतियाँ खरीदने के लिए कहता है। चालीस सालों से लिख रहे हैं। रॉयल्टी लेते रहे, लेकिन अब—।

“2019 में उपन्यास छपा था। उसके बाद कोई पुस्तक नहीं। कहानी संग्रह तैयार है। तुम्हें भी कहा था, लेकिन—।”

“यार, कहा न कि प्रकाशन की दुनिया—।”

तस्लम की बात काटते हुए वह बोले, “लेकिन नवीन—।”

इस बार तस्लम ने उनकी बात काटी, “कहा न पैसा, पैसा—मुद्रा की महिमा – तुम्हें लिखने की भी जरूरत नहीं। लिखने वाले दरवाजे आकर पांडुलिपि दे जाएंगे और पैसा है तो छपने का भी संकट नहीं।”

“तो क्या नवीन भी—?”

तस्लम चुप रहे। वही बोले, “तस्लम सच में ही साहित्य की दुनिया बदल गई है?”

“इसीलिए कहता हूँ कि घर से बाहर निकला करो। तुम्हें नवीन के कार्यक्रम में जाना चाहिए था। मैं गया था।”

“हाँ जाना चाहिए था, लेकिन यह सब जान कर और भी जाने का मन नहीं करेगा।”

“फिर लिखना छोड़ दो।”

“वह तो खून में है, वह नहीं छूटेगा।” एक क्षण रुक कर वह बोले, “नवीन जी ने ‘गांधारी’ का लोकार्पण भी कुछ दूर की सोच कर शिक्षा मंत्री और चंपक लाल से करवाया है शायद!”

“समय की नब्ज को पहचानते हैं नवीन कुमार”

“सच तस्लम” !

संपर्क : फ्लैट नंबर -705, टावर-8, विपुल गार्डन्स, धारुहेड़ा -123106, मो. .8059948233

सही निर्णय

—जयराम सिंह गौर

बृजेंद्र को इस कॉलोनी में आए मुश्किल से पंद्रह दिन हुए थे, वह ऑफिस से घर पहुँचा ही था उसने देखा कि उसकी पत्नी एक अनजान युवती से बात कर रही थी। वह संकोच में बाहर ही रुक गया था तभी वह युवती कमरे से निकली। उसे देख कर उसने उससे नमस्ते की और बोली, 'आप से पहले इस क्वार्टर में शर्मा जी रहते थे, उनसे मेरे पारिवारिक संबंध थे, उन्होंने मुझे आप लोगों के बारे में बताया था इसीलिए मैं भाभी जी से मिलने चली आई।'।

'अच्छा किया आपने, शर्मा जी ने आपके परिवार के बारे में मुझे भी बताया था, मैं स्वयं ही आप लोगों से मिलना चाहता था, यह अच्छा हुआ आप आ गई।'।

उसके जाने के बाद बृजेंद्र की पत्नी ने बताया, 'इसका नाम सुजाता बाजपेई शायद हमें अपनी बिरादरी का समझ कर मिलने आई थी। एम.ए. में जुहारी देवी महाविद्यालय में पढ़ती है, मुझसे साफ-साफ तो नहीं कहा पर मुझे उसकी बातों से ऐसा लगा कि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है, वह ट्यूशन के फिराक में आई थी।'।

'ठीक तो है, रीमा को पढ़ाने के लिए उससे कह देना।'।

'ठीक है।'।

सुजाता उसकी बेटी रीमा को पढ़ाने आने लगी। वह बहुत मेहनती लड़की थी। इसके साथ वह बहुत संकोची भी थी। गाँव से फसल की चीजें जब आती थीं तो पत्नी उसे देती थी उसे भी लेने में वह उसे बहुत संकोच करती थी। उसको मेरे घर बेटी को पढ़ाते काफी समय हो गया था वह अब पत्नी से काफी खुल गई थी और वह उनसे अपनी घरेलू समस्याओं को भी पत्नी से साझा कर लिया करती है। यह स्त्रियों का खास गुण होता है कि वह दूसरों की बातों को बहुत जल्दी जान लेती है। सविता और मेरी पत्नी में काफी अंतरंगता हो गई थी। वह रोज-रोज कुछ न कुछ उसके बारे में बताया करती थीं।

एक दिन उसने अपने बारे में मेरी पत्नी को बताया, 'मेरे परिवार में मेरी माँ, भाई, भाभी और एक भतीजा कुक्कू है, दो बड़ी बहनें थीं जिनकी शादियाँ मेरे पिता अपने मरने से पहले कर गए थे। मेरे पिता लोको शेड के इंचार्ज थे, बड़ा सा बंगला था उसमें हम लोग रहते थे। मेरे बाबा भी रेल्वे में अधिकारी थे, जिनकी नौकरी शेष रहते मृत्यु हो गई थी उन्हीं की जगह मेरे पिता की नौकरी लगी थी। बाबा जी की तीन बेटियाँ थी जिनमें वह एक की ही शादी कर पाए थे। दोनों बुआ की उसके पिता जी ने शादियाँ की थीं। दादी को अच्छी पेंशन मिलती थी, फंड आदि का खूब पैसा मिला था इसलिए शादियों में कोई असुविधा नहीं हुई। मेरी बड़ी बहनें पढ़ने में सामान्य थीं और भाई पढ़ने में बिल्कुल ठीक नहीं था इसलिए उसे रेल्वे लोको शेड में लेबर

लगवा दिया था। वह काफी दुबला-पतला और बीमार सा दिखता था, पर बड़ा व्यवहार कुशल था, मुहल्ले में उसका सबसे अच्छा व्यवहार था।

उसकी नौकरी लगते ही दादी के मायके के एक परिवार वाले उसकी शादी के लिए दादी के पीछे पड़ गए, दादी ने हाँ कर दी और भाई की शादी हो गई। भाभी बहुत सुंदर और सुशील थी। घर भर की दुलारी थी। मेरी और उसकी उम्र में अधिक अंतर नहीं था इसलिए मेरी उनकी खूब पटती थी। दोनों बहनों की शादियाँ हो गई थी, जब भी अपनी ससुराल से आती तो भाभी को ननद होने का स्तुति दिखाती इसलिए भाभी उन दोनों से डरती थी। मेरे फूफा जी का घर में एक तरह से आतंक था। मेरे पिता जी शराब और नानवेज से परहेज करते थे पर जब वह आते थे तो उनके लिए व्यवस्था करनी पड़ती थी।

‘तुम्हारी दादी एतराज नहीं करती थी?’ मेरी पत्नी ने पूछा।

‘कैसे करतीं, उनके दुलारे दामाद थे।’

‘क्या नानवेज घर में बनता था?’

‘नहीं पिता जी के एक मित्र थे पंकज श्रीवास्तव, उन्हीं के घर में बनता था, पिता जी बताते थे कि वह उनको शराब पीना सिखाने की बहुत कोशिश की पर पिता जी उनके चक्कर में नहीं फंसे।’

दादी जी कभी भी बीमार नहीं पड़ीं, एक दिन सुबह-सुबह उन्होंने अम्मा से कहा कि उन्हें सांस लेने में तकलीफ हो रही है, उन्होंने पिता जी से कहा, पिता जी टैक्सी मंगा कर उन्हें अस्पताल ले गए, वह अस्पताल भी नहीं पहुँच पाए रास्ते में ही दादी नहीं रही, थोड़ी देर बाद उनको लेकर घर आ गए। दादी के मरने में उन्होंने पिता जी को बहुत डाँटा था जैसे उन्होंने ही दादी जी को मार डाला हो। पिता जी चुपचाप सुन रहे थे, मुझसे न रहा गया मैंने उनसे कहा, ‘फूफा जी आप पिता जी को ऐसे क्यों कह रहे हैं? दादी पिता जी की माँ थी, क्या कोई

अपनी माँ को मार सकता है? आप ऐसा कर सकते हैं?’

इतना सुनते ही उनका पारा सातवें आसमान पर पहुँच गया, जो कहना था जो न कहना था सब उन्होंने कहा, फूफा जी को इस तरह मुझे डाँटते देख पिता जी को अपनी आदत के विरुद्ध उस दिन जाने कहाँ से साहस आ गया, वह फूफा जी से बोले, ‘क्यों आप सविता को ऐसे डाँट रहे हैं? उसने कुछ झूठ कहा है? आपने हम लोगों को सांत्वना देना तो दूर डाँट रहे हैं, क्यों यह आपको शोभा देता है, आप बड़े हैं पर आप ने थोड़ा भी बड़प्पन दिखाया ? सहने की भी एक सीमा होती है, कितना सहें।’

फूफा जी को रंच मात्र भी यह आशा नहीं थी कि पिता जी ऐसी प्रतिक्रिया देंगे, वह बोले, ‘मैं यह भूल गया था कि मेरी सास के न रहने के बाद मेरी ससुराल नहीं रही, अब मुझे किसी को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं रहा।’

‘न आपकी ससुराल खत्म हुई है और न ही कहने का अधिकार, पर बात एक सीमा तक ही होना चाहिए।’ पिता जी ने कहा। दामाद तो वैसे ही घाट पर नहीं जाता है पर वह तेरहवीं पर भी नहीं आए।

पिता जी रिटायर हो गए, इस कारण रेल्वे का बंगला खाली करना ही था तो पिता जी ने यह क्वार्टर ले लिया और यहाँ रहने के लिए आ गए। पिता जी अब रिटायर थे, समय की कोई कमी नहीं थी। उन्होंने भाग-दौड़ करके मेरी दोनों बहनों की शादियाँ कर दीं। दुर्भाग्य बता कर नहीं आता, एक दिन उन्हें भी दादी की तरह सांस लेने में तकलीफ हुई, उन्हें तो हम लोग अस्पताल तक भी नहीं ले जा पाए, और वह हमें छोड़ कर चले गए। अबकी बार फूफा आए तो मगर चुपचाप ही रहे। धीरे-धीरे सब-कुछ ठीक हुआ।

भाभी का प्रसव-काल नजदीक आया तो उन्हें रेल अस्पताल में भर्ती कराया गया, भाभी पहले से

कमजोर थी, प्रसव ऑपरेशन से हुआ उसी में डॉक्टरों की लापरवाही में भाभी और बच्चा दोनों नहीं रहे। घर में तो भूचाल जैसा आ गया। बुआ और बहनें आई और मातमपुर्सी करके चली गयीं। अम्मा के ऊपर बहुत बुरा असर हुआ वह सदमें में आ गई। भविष्य को किसने देखा है, समय अपनी गति से चल रहा था। अम्मा को पान खाने की लत थी। एक दिन बारिस हो रही थी उनके पान समाप्त हो गए थे, पान की तलब उन्हें बेचैन किए थी, उन्होंने सोचा कि क्यों किसी को परेशान किया जाय, वह बिना किसी को कुछ बताए पान लेने के लिए बाजार की तरफ चल पड़ीं, समय को कुछ और मंजूर था, रास्ते में टूटा हुआ बिजली का तार पड़ा था जिसमें करेंट था, वह उसी की चपेट में आ गई, जब तक लोग उन्हें देखें उनकी मृत्यु हो गई। यह सविता के परिवार पर बहुत बड़ा आघात था। उनकी माँ को मोटी पेंशन मिलती थी जिससे परिवार को काफी मदद मिलती थी। वह भी बंद हो गई।

माँ के न रहने का समाचार सुनकर सविता की दोनों बहनें और बुआ-फूफा भी आए। अब की बार फूफा तो चुप रहे पर बुआ सांत्वना देना दूर की बात वह माँ की मृत्यु की जांच करने लगीं। उन्होंने रोशन को डांटते हुए पूछा, 'बरसते पानी में भाभी जी पान लेने कैसे चली गई? घर के लोग सब कहाँ चले गए थे? तुम कहाँ थे? तुम लोगों की लापरवाही के कारण भाभी की जान गई।'।

‘मैं घर पर नहीं था।’

अपनी बुआ फूफा के ऐसे व्यवहार से रोशन और सविता दोनों हतप्रभ थे, दोनों गुमसुम बैठे थे। बुआ थी कि रूकने का नाम ही नहीं ले रही थी। उन्होंने फिर कहा, ‘अब तो तुम लोग खुश होगे कि तुम्हारा बोझ हटा।’

यह बात सुन कर सविता से नहीं रहा गया, वह बोली, ‘बुआ जी वह आपकी भाभी ही नहीं हम

लोगों की माँ भी थी। वह हम लोगों पर बोझ नहीं हमारा सहारा थी, उनकी पेंशन से हमारा घर चलता था। हम लोग चुप हैं तो जो आप के मुँह में जो आएगा आप बकती रहेंगी। आप कितनी हमदर्द हैं, यह हम लोग अच्छी तरह जानते हैं। कभी उनका हाल लेने आए? अब आई हैं झूठा नाटक दिखाने। ‘रोशन ने उसे रोकना चाहा पर वह रूकी नहीं उसने फिर कहा, ‘इतनी हम लोगों के ऊपर मुसीबतें आई कभी आप ने आकर सुधि ली है।’

‘देखा इस लड़की की जुबान कितनी लंबी हो गई।’

‘क्यों, सही बात सुनने की हिम्मत नहीं है, जब कुछ करना नहीं है तो बेकार का भाषण क्यों देती हैं? बर्दाश्त करने की भी एक सीमा होती है, कितना सहें, आप तो हम भाई बहनों पर माँ को मार डालने का आरोप लगा रहे हैं, देखिए हम लोगों के जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप न करें, हमें अपना जीवन जीने दें।’

सविता की बुआ ने यह सपने में भी नहीं सोचा था कि सविता इस तरह की प्रतिक्रिया देगी, वह सन्नाटे में आ गई। उन्होंने चिल्लाते हुए सविता की बहनों को अवाज दी जो अपनी माँ के बक्से की खानातलाशी में लगी थी। जो भी उसमें काम का सामान निकला उसे अपने पर्स के हवाले किया और बुआ के पास आकर पूछा, ‘क्या हुआ?’

‘अरे होने को क्या बचा है? इस लड़की ने तो मेरी इज्जत उतार कर रख दी, अब मैं समझ लूँगी कि भाभी के मरने के बाद मेरा मायका ही खत्म हो गया, अब मैं कभी यहाँ नहीं आऊँगी, तुम लोगों को रूकना हो तो रूको मैं अब यहाँ एक पल भी नहीं रुकूँगी।’

‘जहाँ आपका सम्मान न हो वहाँ हम लोग रूक कर क्या करेंगी।,’ दोनों बहनों ने संवेत स्वर में कहा और सब चले गए।

कहानी

उनके जाने के बाद सविता अपनी माँ का बक्सा खुला देख कर चौकी, बक्सा देखने पर मालूम हुआ कि उसकी माँ की सोने की जंजीर, कान के टॉप्स और चांदी के पायल गायब हैं। उसने रोशन को बताया, रोशन ने उससे चुप रहने को कहा। लेकिन उसने अपनी बहन को फोन करके खूब धिक्कारा। सविता सोच रही थी कि माँ के जेवर जो कभी मुसीबत में काम आ सकते थे वह भी बहनों की हवस की भेंट चढ़ गये।

इस घटना से रोशन को बहुत धक्का लगा, वह गुमसुम रहने लगा। पहले तो सविता ने ध्यान नहीं दिया। एक दिन उसने देखा रोशन अकेले बैठा अपने-आप से बात कर रहा था, उसने उससे पूछा, 'भैया क्या हुआ?'

'अंय! मुझे क्या हुआ?' चौंकते हुए रोशन ने प्रतिप्रश्न किया।

'अभी अकेले में आप किससे बात कर रहे थे?'

'मैं बात कर रहा था?'

'हाँ आप बात कर रहे थे। बताइए न क्या बात है?'

'मेरे फूफा और बहनें इतने नीचे स्तर तक जा रुकते हैं यह तो मैंने कभी सोचा ही नहीं था?'

'भैया आपको उन लोगों से अभी तक मोह है?'

'उन से हम लोगों का खून का रिश्ता है।'

'भैया अब तो जागो, जो रिश्ते, रिश्तों का खून पी रहे हों वह कैसे रिश्ते? असली रिश्तेदार तो अपने पड़ौसी हैं जो हर मौके पर अपने काम आते हैं। जिनको आप खून के रिश्तेदार कहते हैं वह तो किसी भी मौके पर हम लोगों को ज़लील करने में नहीं चूकते। इनसे तो भगवान ही बचाए।'

'कहती तो तुम ठीक हो।'

रोशन सविता के सामने सामान्य होने का नाटक करता पर परोक्ष में वह अपने रिश्तेदारों के

व्यवहार और सविता का विवाह न हो पाने के पीछे अपने को ही दोषी मानता था और निरंतर इसी के बारे में सोचा करता था। सविता जब उसे देखती वह गुमसुम ही दिखता। एक दिन वह मेरे घर आकर मुझसे बोली, 'आपके पास कुछ समय है?'

'हाँ-हाँ, बोलो क्या बात है?'

'मुझे आपसे कुछ बात करनी है।'

'बोलो, क्या बात करनी है? आप बेफिक्र हो कर अपनी बात कहें।'

उसने अपने ऊपर बीते पूरे घटनाक्रम को बताने के बाद कहा, 'भैया को न जाने क्या हो रहा है?'

'क्या हो रहा है?'

'दिन प्रति दिन वह गुमसुम होते जा रहे हैं और उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। यह तो आप जानते ही हैं कि उनके सिवा अब और तो कोई मेरा है नहीं।'

'ठीक है, कुछ सोचते हैं।'

सविता अपने घर चली गई। मैंने अपने मित्र राहुल जो मानसिक रोगों का डॉक्टर है उसे सारी बातें बता कर उसकी मदद मांगी। उसने शाम को अपने क्लीनिक पर बुलाया। मैं रोशन और सविता को लेकर उसके क्लीनिक पर गया, वह सविता और रोशन से करीब घंटे भर तक पूछ-ताछ करता रहा और उन लोगों से दूसरे दिन आने को कहा। रात में राहुल का फोन आया, उसने बताया, 'रोशन डिप्रेशन में जा रहा है, कुछ दिन इसकी कौंसिलिंग करनी पड़ेगी।'

'कितना खर्च आएगा।'

'इनकी आर्थिक स्थिति कैसी है?'

'बिल्कुल अच्छी नहीं है, यह क्यों पूछा?'

'सविता क्या तेरी रिश्तेदार है?'

'रिश्तेदार नहीं है, मेरी पड़ौसी है, पर किसी रिश्तेदार से अधिक है, बहुत मुसीबत में है।'

'कैसी मुसीबत?'

कहानी

मैंने राहुल को सविता की पूरी स्थिति बताई, राहुल ने कहा, 'फिर तो इसकी मदद करनी चाहिए, तुम इन दोनों को हर दूसरे दिन शाम को मेरे पास भेजते रहो ईश्वर चाहेगा तो कुछ दिन में ठीक हो जाएगा।'।

‘धन्यवाद यार।’

‘धन्यवाद कैसा यार? मैं भी इंसान हूँ, रोशन बहुत जरूरतमंद है, उसकी मदद होनी चाहिए।’

रोशन की कौंसलिंग चल रही थी, कुछ लाभ भी दिख रहा था। सविता को भी लग रहा था कि शायद रोशन अब ठीक हो जाएगा।

सविता का एम.ए. पूरा हो गया था, वह नौकरी के लिए खूब हाथ-पैर मार रही थी, पर कहीं जुगाड़ नहीं लग रहा था। अध्यापकी के लिए बी.एड. आड़े आ रहा था। घर की परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि वह बी.एड. कर सके और उसके समर्थ फूफा और बहिनें जाने किस जन्म की दुश्मनी निभा रहे थे। उसने हार कर प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाने की सोची। प्राइवेट स्कूलों का हाल जग जाहिर है देते हैं कुछ और हस्ताक्षर कुछ पर करवाते हैं। काम भी खूब करवाते हैं, लोगों की मजबूरी का नाजायज फायदा उठाते हैं।

वह ब्याह लायक हो रही थी। रोशन के पिता थे नहीं उसके ब्याह की जिम्मेवारी भी रोशन की थी। वह सोच रहा था कि दोनों बहनों की शादियाँ बड़ी धूम-धाम से हुईं, पर पैसे के अभाव में सविता की शादी के लाले पड़े हैं। रोशन खूब हाथ-पैर मार रहा था पर कहीं भी काम बनता नहीं दिख रहा था। जातीय संगठनों की शरण में गया पर उचित दहेज न जुटा पाने के कारण सविता की शादी का जुगाड़ नहीं बन पा रहा था।

सविता को इस बात का अहसास था कि रोशन उसकी शादी के लिए बहुत परेशान है। उसने रोशन से कहा, ‘भइय्या क्यों इतने परेशान होते हैं?’

‘तेरे ब्याह के लिए मैं नहीं परेशान होऊँगा तो कौन होगा सविता? बड़ी आस लगा कर फूफा जी के पास गया था कि वह कुछ मदद करेंगे, पर वह उल्टा मेरा हिसाब माँगने लगे।’

‘कैसा हिसाब भैय्या?’

‘यही कि पिता जी का रुपया कहाँ गया? अम्मा का जेवर कहाँ गया? मेरे फंड का पैसा कहाँ गया?’

‘क्या यह वह भूल गए कि बाबू जी ने दो बहनों, दो बेटियों और एक बेटे की शादी की, बहनों, बेटियों और बेटे की शादी में उनका कितना पैसा खर्च हुआ होगा, उनको मेरा हिसाब लेने का क्या अधिकार है? आपको उन्हें ठीक से उतार देना चाहिए था।’

‘सविता, वह बड़े हैं, इसीलिए मैं चुप रहा।’

‘बुआ जी उस समय नहीं थी क्या?’

‘थी, पर उन्होंने भी कुछ नहीं कहा, इस जमाने में गरीब का साथ कोई नहीं देता।’

‘क्या आप उनसे भीख मांगने गए थे? आप तो उनसे संबंध पूछने के लिए गए थे।’

‘शायद उन्होंने समझ लिया होगा कि कहीं उन्हें ही शादी न करना पड़ जाय। इसीलिए उन्होंने ऐसा व्यवहार किया।’

‘भैय्या बहुत हो गया, दुनिया में ऐसे भी लोग होते हैं जिनके विवाह नहीं होते, मैं विवाह नहीं करूँगी, अब आप को और अपमानित होते नहीं देख सकती।’

‘अरे कहीं ऐसा होता है? लड़की वालों को यह सब झेलना पड़ता है।’

‘ऐसा ही होगा भइय्या, मैं शादी नहीं करूँगी, कहीं न कहीं मेरी नौकरी लग जाएगी, मैं सम्मान से अपनी जिंदगी काट लूँगी। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मेरे किसी आचरण से परिवार की प्रतिष्ठा को आँच नहीं आएगी।’

कहानी

‘पगली कहीं ऐसा भी होता है, तेरा विवाह मेरी जिम्मेवारी है।’

‘भैया वास्तविकता के धरातल पर आइए और सोचिए इस दहेज के भूखे समाज में आप कैसे अपनी जिम्मेवारी निभा पाएंगे।’

कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि रोशन अपना मकान बँच कर कहीं चला गया। मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि मुझे बताया भी नहीं, सविता से हम लोगों का भावनात्मक लगाव हो गया था, उसकी याद अक्सर आती थी। आज अचानक दो साल बाद वह मेरे घर आई। उसे देख बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ, उससे पूछा, ‘तुम बिना बताए कहाँ चली गई थी?’

‘हाँ भाई साहब यह तो गलती हुई। भैया ने कहा था कि यदि आप लोग जान जाएंगे तो हो सकता है कि आप लोग हमें न जाने देते।’

‘और बताओ और क्या हाल हैं?’

‘मेरी शादी तय हो गई है, उसी का निमंत्रण देने आई हूँ। बगैर आप लोगों के आशीर्वाद के तो शादी कैसे होगी?’

‘कहाँ तय हुई?’

‘मेरे मामा के लड़के का साला मयंक अक्सर मेरे घर आया करता था। रिश्ता ही ऐसा था, वह अक्सर मजाक किया करता रहता था। एक दिन उसने मुझे प्रपोज कर दिया। मैंने उससे कहा, ‘जानते हो तुम क्या कह रहे हो? हम लोगों के पास देने को कुछ नहीं है, तुम्हारे माता-पिता इस रिश्ते के लिए मान जाएंगे?’

‘मैंने सब सोच-समझ के कहा है, शायद तुम्हें मालूम नहीं है मेरे माता-पिता कब के गुजर गए हैं। मैं बिल्कुल अकेला हूँ, मुझे किसी से राय नहीं लेनी है। सोचना बस तुम लोगों को है। तुम्हें अगर मंजूर हो तो मैं रोशन भैया से बात करूँ।’

मेरे मन में खुशियों के अनार फूटने लगे, दुनिया रंगीन दिखने लगी, बजाय उसको उतार देने के मैं अपने में खो गई। उसने फिर कहा, ‘कुछ बोलो तो,

मैं भैया से बात करूँ।’ मैं हँस कर दूसरे कमरे में चली गई।

उसने दूसरे दिन आकर भैया से बात की। भैया को कोई एतराज नहीं था, उन्होंने मुझसे पूछा, ‘मयंक ने तुमसे शादी की बात की? तुम्हारा क्या विचार है।’

‘मैं क्या कहूँ, जैसा आप चाहें।’

‘इसके माने तुम्हारी इच्छा है।’

मैं चुप रह गई थी। भैया को कोई एतराज नहीं था। मयंक के घर में आने से घर का कोना-कोना चहक उठता था। वह किसी न किसी बहाने से आता रहता था। मेरे सपनों की परवाज का कोई अंत नहीं था। भैया मेरे विवाह के बारे में राय लेने बुआ जी के पास चले गए, उन्होंने भैया से कहा, ‘क्या दुनिया भर के लड़के मर गए हैं?’

‘मैं समझा नहीं।’

‘मयंक तुम्हारे मामा के लड़के का साला है।’

‘हाँ है।’

‘तुम मयंक के मान्य के मान्य हुए।’

‘तो?’

‘कैसे मूर्ख हो? इतने नीचे उतर कर संबंध करोगे, मयंक को अपना मान्य बनाओगे, इस शादी में कोई भी बिरादरी वाला और रिश्तेदार शामिल नहीं होगा। मैं तो कतई नहीं शामिल होऊँगी और इस शादी के बाद तुमसे संबंध भी समाप्त कर लूँगी,’ बुआ जी ने कहा।

भैया ने मुझे बताया, मैंने उनसे पूछा, ‘आपने क्या सोचा?’ मैं भीतर ही भीतर बहुत डर रही थी कि कहीं भैया बुआ की बात न मान लें। मैं सहमी सी उनकी तरफ ताक रही थी। तभी भैया ने कहा, ‘मैं सोचता हूँ, रिश्ता तो इन लोगों से वैसे ही टूटा हुआ है, फिर हाथ आए इतने सुंदर अवसर को क्यों छोड़ूँ?’

बिल्कुल सही निर्णय, तुम्हें हार्दिक बधाई, हम लोग जरूर आएंगे। बृजेंद्र ने कहा।

संपर्क : 180/12 बापूपुरवा कालोनी, किदवईनगर, पोस्ट टी.पी.नगर, कानपुर-208023

मो. 9451547042, 7355744763

रूसी कवि अन्ना अख्मातोव की कविताओं का हिन्दी अनुवाद**अनुवादक - अस्मिता सिंह**

अन्ना अख्मातोव रूस की प्रथम महिला कवयित्री मानी जाती हैं। साथ ही रूस की महानतम कवियों में इन्हें शुमार किया जाता है। उन्होंने मुख्य रूप से कविताओं की ही रचना की। इनकी गद्य रचनाएँ बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। जिनमें कुछ संस्मरण तथा डायरी के कुछ पृष्ठ शामिल हैं। इनका जन्म 23 जून 1888 को यूक्रेन के ओडेसा में हुआ था और मृत्यु 1966 में हुई। 1965 में इनका नाम नोबेल पुरस्कार के लिए नामांकित किया गया था। अन्ना अख्मातोव की कुछ पुस्तकों के नाम हैं: रेक्विम, अ पोयम विदाउट अ हीरो, अ स्ट्रेंजर टू हवेन ऐण्ड अर्थ। गद्य के नाम पर कुछ अति महत्वपूर्ण संस्मरण तथा कुछ डायरी के पन्ने ही उपलब्ध हैं।

हमारा पवित्र क्राफ्ट

ये हमारा पवित्र क्राफ्ट जो
सदियों से जीवित है
हमारी पवित्र कला जो
हजारों सालों से जीवित है अपनी
चमक के साथ ...
जिसकी वजह से अँधेरे के बावजूद
दुनिया चमक रही है।
जबकि दुनिया अभी भी अँधेरे में है।
पर किसी भी कवि ने कभी तूल नहीं दिया,
ना हंसी के माध्यम से और न ही
आँसुओं के माध्यम से
यह मिट्टी शुद्ध और दोषरहित है,
जिसे हमने टुकड़े-टुकड़े किया है,
जब चाहा, जैसा चाहा,
फेंटा, मिलाया और कुचला है।
पर यह हमारी है, हमारी अपनी,
और एक दिन यह अपनी बाहें फैलाएगी
हमें अपनाने के लिए, आलिंगन के लिए,
हमें फिर से मिट्टी में तब्दील करने के लिए।

एक पुकार सुनी

एक आवाज़ की पुकार सुनी मैंने
जो बहुत सुखद लगी।
उसने विनम्रतापूर्वक कहा-
'इधर आओ।'
तुम्हारे पाप से परिपूर्ण रूस की धरती
जिन्दा रहेगी और
हमेशा रहेगी और
विस्तृत होगी।
'तुम्हारे रक्त-रंजित हाथों को मैं मीठा बनाऊंगी।
मैं तुम्हारे हृदय की ग्लानि को दूर करूंगी।
और अपमान और हार के दर्द को हरूंगी।
मैं तुमको सहज ही नया नाम दूंगी।
मैं अपने दोनों हाथों से कानो को दबा लेती हूँ,
अपने चित्त को स्थिर और शांत करते हुए
और अपनी संतप्त आत्मा को दुखी नहीं
होने देती।

साहस

हमारा भाग्य अधर में लटक रहा है,
हम जानते हैं
जबकि हमलोग इतिहास - निर्माता हैं।
साहस ने हमें ललकारा है,
साहस हमारा साथ कभी नहीं छोड़ेगा।

जहाँ बंदूके चीखती हैं।
वह भी हम मौत से नहीं डरते,
न ही खाक हो गये घरों के लिए रोते हैं -
क्योंकि
हम अपनी रूसी भाषा को जिन्दा रखेंगे,
गौरवपूर्ण रूसी भाषा!
तुम्हारे अस्तित्व को शुद्ध और स्वतंत्र रखेंगे
आने वाली पीढ़ी के लिए, तुम्हारी रक्षा करेंगे।
अपनी रक्षा आखिरी सांस तक,
हमेशा के लिए!
(फरवरी 1942)

कितना सही है वह

कितना सही है वह - लैम्प , नेवा
कैमिस्ट की दूकान, और एक मृगतृष्णा;
एक आदमी, एक खड़ा स्मारक
समय की घटनाओं चिह्नित करने के लिए ...
यह सब शाम को वह फिर देखता है
पुश्किन के घर को वह अलविदा करता है
और ऐसा आराम जो उसे नहीं
मिलना चाहिए था
उसने दर्द को ओढ़े हुए,
मौत का आलिंगन किया।

यह समय

यह समय है ! भूल जाने का
जुअकोवस्की स्ट्रीट को,
सफ़ेद दीवार वाले घर को, नगर
की छत को, उसके मेहराबों को,
उसके चिड़िया घर जैसे कोलाहल को ...
जो बहुत दूर है ...
मिलने से बहुत दूर
आँखें मटकाते हुए कुकुरमुत्ते

और सिर हिलाते हुए
शाही मास्को के पेड़ों को
जो चमक रहे हैं, तुषार गिर रहे हैं,
दूर है आकाश बहुत, पत्ते
और घास खरखरा रहे हैं,
और रोगाचोवस्की का ऊँचा
रास्ता भी धधक रहा है
ब्लॉक के जीवन से परिपूर्ण प्रमत्त
और स्वतंत्र सीटियों के साथ।

अभी भी कुछ चीजें हैं

अभी भी कुछ चीजें हैं जो यह चाहती हैं कि
मैं उनकी प्रशंसा में गीत गाऊँ
पहाड़ी कंदराजाओं से निकलती
हुई ये चीजें निरंतर
मुझ पर हावी रहती हैं, मेरा पीछा
करती रहती हैं
और ऐसी खामोशियों को
मुझ पर उछालती रहती हैं
जिन्हें
जिन्दा रहने के लिए निश्चित
रूप से स्वर मिलना चाहिए

फिर भी एक और चीज है,
जिसके बारे में मुझे कुछ कहना है
आग और पानी के बारे में,
धरती और हवा के बारे में,

और इसलिए जब मेरी कल्पनाशीलता
सक्रिय हो उठती है,
मैं दरवाजे खोलकर चमकती
हुई सीढ़ियों के सहारे
भोर के तारे तक पहुँचती हूँ।

संपर्क: 402 रॉयल स्ट्रीट, मेनसन, न्यू पी.पी. कॉलोनी, पटना - 800013 बिहार, मो. 89057436

मृदुला गर्ग का उपन्यास : ये नायाब औरतें

-गीता दूबे

आत्मकथा लिखना बेहद जोखिम भरा काम है। मशहूर पंजाबी लेखिका अजीत कौर के शब्द उधार लेकर कहना चाहूँगी - 'आत्मकथा लिखना अंगारों पर चलने जैसा है।' लेकिन इस खतरे के बावजूद लोग अपने साथ घटी घटनाओं को दूसरों के साथ साझा करना चाहते हैं और करते हैं। आखिरकार उसके पीछे उनकी क्या मंशा होती है? क्या वे अपने आपको इतना महत्वपूर्ण मानते हैं कि अपने बारे में बताकर देश-दुनिया में ख्याति कमाना चाहते हैं या फिर एक सनसनी पैदा करना चाहते हैं। पहली बात भले ही सही नहीं है लेकिन दूसरी वजह से भी आत्मकथाएँ लिखी जाती रही हैं ताकि विवाद खड़ा करके सस्ती लोकप्रियता बटोरी जा सके। ऐसी आत्मकथाएँ हमेशा से लिखी जाती और छपती रही हैं जिनका उद्देश्य ही विवाद या सनसनी पैदा करना होता है लेकिन चुनिंदा कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनके आईने में आपको न केवल लेखक की जिंदगी बल्कि उसके दौर की मुकम्मल तस्वीर भी साफ नजर आती है। उसके घर, परिवार, संघर्षों, विफलताओं और उपलब्धियों से सामना होता है और उसके बारे में हमारी पहले से बनी राय बाजदफा बदल जाती है। कुछ लेखक अपनी किसी एक कृति विशेष के आधार पर बदनामी या नेकनामी बटोर बैठते हैं। नेकनामी में हिस्सा बंटाने के लिए तो सभी जमा हो जाते हैं लेकिन बदनामी की चादर को और भी धब्बेदार बनाने की कोशिशें ही नहीं साजिशें भी होती रहती हैं। ये बदनामियां मंटो के हिस्से भी आई और इस्मत चुगताई को भी इसने नहीं बख्शा। खैर, मैं बात कर रही हूँ 'उसके हिस्से की धूप', 'चितकोबरा' 'कठगुलाब' आदि उपन्यासों की लेखिका के रूप में चर्चित सशक्त रचनाकार मृदुला गर्ग की। मुझे लगता है कि उनके हिस्से जितनी बदनामी 'चितकोबरा' की वजह से आई उतनी नेकनामी 'अनित्य' जैसे उपन्यास के लिए भी आनी चाहिए थी। वैसे भी जहां आलोचना के मानक पुरुष लेखक तय ही नहीं करते बल्कि स्त्रियों को यह दिशा निर्देश देते भी नजर आते हैं कि उन्हें क्या और कितना लिखना चाहिए और अगर वह लेखन उनकी कसौटी पर खरा न उतरे तो उसे सुनियोजित ढंग से खारिज करने में लग जाते हैं वहां लेखिका से जुड़ी चर्चा-कुचर्चाओं पर क्या ही बात करना। फिलहाल जिक्र करना चाहूँगी, हाल ही में प्रकाशित उनकी आपबीती 'ये नायाब औरतें' का। वैसे इस आपबीती शब्द का इस्तेमाल लेखिका ने स्वयं किया है। मुझ जैसे पाठक से कोई पूछे तो मैं इसे संस्मरणत्मक कोलाज कहना चाहूँगी। लेखिका ने जो समर्पण लिखा है, उससे भी इस बात की पुष्टि होती है- 'खुदाई हँसी को समर्पित' मेरा खुदा हँसा तो वह संस्मरण हो गया।'

पारंपरिक आत्मकथाओं की तरह इसमें कथा वृत्तांत सिलसिलेवार ढंग से आगे नहीं बढ़ता। अपने परिवार के एक सूत्र को पकड़ कर लेखिका अपनी कथा बड़े सरस ढंग से सुनाती हुए, सूत्र के अंतिम सिरे पर पहुंचकर उसमें गांठ लगाकर

तुरंत ही एक दूसरे सिरे को हाथ में पकड़ लेती हैं और स्मृतियों की बहुरंगी डोरों को पकड़कर जो रंग- बिरंगी चादर बुनती हैं उसकी गर्माहट में सिमटकर पाठक को सुकून और आनंद दोनों की अनुभूति होती है। विविध जीवन स्मृतियों से बुनी गई इस चादर में कहीं-कहीं पीड़ा के पैबंद भी साफ नजर आते हैं। अब जिंदगी किसी की भी हो, उसमें उतार- चढ़ाव आते ही रहते हैं लेकिन लेखिका उस दुख से निकलने का रास्ता भी ढूंढ निकालती हैं। पाठक लेखिका और उसके जीवन में आनेवाले पात्रों की कथा को पूरे मन और आग्रह के साथ सुनता हुआ उन चरित्रों के साथ कभी हंसता तो कभी रोता है। कभी सुखद स्मृतियों की चुलबुली यादें उसे गुदगुदाती हैं तो कहीं दुख और अवसाद की घाटी में वह खुद को भी डूबा हुआ पाता है। किसी लेखक की यह बड़ी खूबी होती है कि वह अपनी कथा के प्रवाह में पाठकों को इस तरह बहा ले जाए कि पाठक सब कुछ भूलकर उसकी यात्रा में शामिल हो जाए। निःसंदेह मृदुला जी की किस्सागोई में पाठक का मन बरबस रम जाता है और सहज अंदाज के साथ समर्थ भाषा में दर्ज उनकी स्मृति कथा में शामिल होकर, उनकी उंगली पकड़कर वह देश-देशांतर की यात्रा करता है। उनके जीवन के एडवेंचर्स पाठक को भी जोश से भर देते हैं।

इस स्मृति कथा या आपबीती की एक खूबी यह भी है कि उसमें रचनाकार का सिर्फ अपना आप ही नहीं है बल्कि वह थोड़ा कम ही है लेकिन उस आप से जुड़े हुए घर- परिवार, देश-दुनिया के लोगों को भरपूर जगह मिली है और उसमें सिर्फ स्त्रियां ही नहीं हैं, स्त्री मन या सख्य भाव वाले पुरुष भी अनायास ही शामिल हो गये हैं। खुद लेखिका अपनी इस कथा के विषय में कहती हैं - 'एक बात पहले ही कह दें। भले नाम इस फसाने का वे नायाब औरतें हैं, पर इसमें मर्द भी खूब हैं। अब साहेब, जहाँ औरत होगी वहाँ मर्द होगा ही। आजू-बाजू न सही, आगे होने का वहम पाले पीछे आने वाला या कहीं वाकई आगे आने वाला' (भूमिका)।

आत्मकथात्मक या संस्मरणत्मक गद्य अगर बहुत गुरु गंभीर होता है तो पढ़नेवाला उसकी बोझिलता से कभी-कभार घबड़ा उठता है इसलिए समझदार लेखक बड़े सलीके से गंभीर से गंभीर कथा में भी कुछ ऐसे रोचक प्रसंग जोड़ देता है कि पाठक पढ़ते हुए बरबस मुस्करा देता है और पुस्तक के पन्नों से गुजरते हुए कब आखिरी सफे तक पहुंच जाता है, यह उसे पता ही नहीं चलता। लेकिन यहां मामला बिल्कुल अलग है। भूमिका में ही लेखिका की खुशमिजाजी और विट का नमूना मिल जाता है। जो खुद पर हंस सकते हैं वही दूसरों को भी हंसा सकते हैं, दूसरों पर हंसने वाले तो बेहद क्रूर या सैडिस्ट जीव होते हैं। मृदुला जी की भूमिका को पढ़कर ही उनके किस्सों की दिलचस्पी का अंदाजा लग जाता है। बानगी देखिए - 'यह तमाम अफसाना खिसकी बंदियों का है। इसमें हमारा किया-धरा कुछ नहीं है। सारा करिश्मा हमारी किस्मत का है। ऐसी आला निकली कि एक के बाद एक कतार से बाहर, लीक से हटी, खिसकी, खबती, सिफर से ज़फ़र तक का सफर तय करती, दीवानगी की हद को छूती पर बाल- बाल बच निकलती मोहतरमाओं से मुलाकात करवाती चली गई। कहीं तलाशने नहीं जाना पड़ा। मामला घर बैठे शुरू हो गया, तीनेक पीढ़ी पहले से। फिर जहाँ कदम बढ़ाया, महफूज़ माने जाने वाले रास्तों से भटकी कोई न कोई औरत मिल गई।' (भूमिका) फिर वह खुद को भी नहीं बख्शाती और कहती हैं कि 'आप कह सकते हैं, हमारे ही दिमाग का कोई पेंच ढीला होगा जो ढीले पेंच वाली मोहतरमाओं को अपने करीब महसूस किया और व्रत बनाते चले गए।' (भूमिका)

भूमिका का शीर्षक भी काफी रोचक है, 'दीवानगी क्या कहिए, किरदार जानें कि अफसाना निगार'। भूमिका में झलकता लेखिका का यह विनोद पूर्ण अंदाज आगे के पन्नों पर यूं ही बना रहता है और पाठक तकरीबन साढ़े चार सौ पृष्ठों का दिलचस्प सफर बड़ी आसानी से तय कर लेता है। कुल अठारह दिलचस्प उप शीर्षकों में सिमटी इस कथा का प्रारंभ 'मां का खिसका घर' के किस्से से होता है और अपने परिवार की दो नायाब औरतों-स्वर्णा आयाजी और नयी दादी के किस्से से मृदुला

जी अपनी आपबीती का आगाज़ करती हैं। फिर उसमें बहुत से दिलचस्प किस्से जुड़ते चले जाते हैं। वह 'पिता का प्यार और बेटियों के नखरे' के अलावा माता-पिता के दोस्तों, सखियों, बहनों - भाइयों और उनसे जुड़े रिश्तेदारों के साथ घरेलू मददगारों, शिक्षिकाओं, सहपाठियों आदि को भी समेटता चलता है। इस अफसाने के तमाम उपशीर्षक भी रोचक हैं जिससे पाठक को कई मर्तबा इतना अंदाज़ा तो हो ही जाता है कि आगे के पन्नों पर कौन सा किस्सा छिड़ने वाला है।

बात अगर साफगोई और उसके साथ ही बेबाकी की करें तो उसपर यह आपबीती खरी उतरती है। आत्मकथा का लेखक यह गुर जानता है कि कितना छिपाना है और कितना बताना है। अब यह बात तो मृदुला जी ही बता पाएंगी कि उन्होंने कितना छिपाया है लेकिन बात जब उधेड़ने की आती है तो वह अपने माता-पिता आदि के बारे में बड़ी तटस्थता लेकिन आत्मीयता के साथ लिखती हैं। उनकी खूबियों के साथ ही खामियों का जिक्र भी करती हैं। न तो वह उन्हें अतिमानव के रूप में चित्रित करती हैं और ना ही आरोपों-प्रत्यारोपों के कटघरे में ही खड़ा करती हैं, बल्कि उनके सहज रूप से हमें रूबरू करवाती हैं। मां की खूबसूरती और नाज़ुक मिजाजी का वर्णन करने के साथ उनके थोड़े से आलसी स्वभाव की ओर भी संकेत करना नहीं भूलती जिसके कारण उन्होंने घर की कोई जिम्मेदारी नहीं उठाई लेकिन पिता के देहांत के बाद वह अपनी हिम्मत बटोरकर उठ खड़ी होती हैं और परिवार को संभालने की कोशिश में लग जाती हैं। यह बात और है कि वह जल्दबाजी या नासमझी में कुछ ऐसे निर्णय लेती हैं जिससे कई परेशानियां पैदा होती हैं। उन घटनाओं के साथ ही अपने इकलौते भाई का जिक्र भी मृदुला जी बड़े दुख के साथ करती हैं जिसे वह सब मिलकर भी संभाल नहीं पाए। 'इकलौता बेटा और इतना अकेला' शीर्षक में वह अपने बेहद जहीन भाई के व्यक्तित्व की रेखाओं को उकेरती हैं जो अपनी पालकों के सपनों और आकांक्षाओं की भेंट चढ़ जाता है। अपने पिता के जीवन के विविध पक्षों पर ईमानदारी से कलम चलाते हुए उनकी रंग-बिरंगी सहेलियों का

जिक्र भी करती हैं। पिता की बीमारी और उनकी अकस्मात मृत्यु की घटना पाठकों को भी निशब्द कर देती है। इसी के साथ साहबी व्यक्तित्व के नाना जो कहलाते भी साहब ही थे, के बनावटी व्यक्तित्व पर खुलकर कलम चलाती हैं। 'सास का दरका घर' में ससुराल वालों के अविस्मरणीय किस्सों को दिलचस्प अंदाज़ में बयान करते हुए अपनी साहसी ननद के फ़ैसलों में उसके साथ दृढ़ता से खड़ी नजर आती हैं।

जब कोई लेखक अपनी आत्मकथा लिखता है तो प्रायः वह अपने समकालीन कथाकारों पर भी कलम चलाता है और वे प्रसंग कभी-कभी इतने विवादास्पद होते हैं कि उसकी अनुगूँज लंबे समय तक सुनाई देती है। मृदुला जी ने भी हिंदी और हिंदीतर भाषाओं के अपने कुछ समकालीन लेखकों को अपने किस्सों में बड़ी उदारता और उत्साह के साथ शामिल किया है। वह उनके व्यक्तित्व के सकारात्मक पक्षों पर बात करती हुई उनके विरोधाभासों पर भी कहीं हौले से मुस्कराकर इशारा करती हुई निकल जाती हैं और कभी कभार खुलकर बात करती हैं। एक समकालीन लेखिका का आकलन करते हुए वह जो स्पष्टीकरण देती हैं, उसका जिक्र जरूरी है- 'माफ करना मधु दोस्ती का फ़र्ज़ है ईमानदार आकलन। तुम अत्यंत प्रिय हो मुझे। हमेशा रहोगी। दोस्ती के अनंत क़र्ज़ हैं तुम्हारे मुझ पर जिन्हें मैं उतारना नहीं चाहती।' (पृ. 377) कृष्णा सोबती, सुधा अरोड़ा, मधु कांकरिया, इंदिरा गोस्वामी, प्रतिभा राय, नवनीता देवसेन आदि को वे अपने जीवन में आनेवाली नायाब औरतों की सूची में शामिल करती हैं। जिन लेखिकाओं का चयन उन्होंने किया है उनमें से कुछ उनके अपने शब्दों में बेमिसाल और दोस्तनवाज़ हैं तो कुछ बनी-बनाई लीक छोड़कर नये रास्ते तलाशने वाली। अपनी मित्र अर्थात् एक और नायाब औरत सुनीता जैन के रचनाकर्म और स्नेहिल स्वभाव का भावपूर्ण वर्णन करती हुई वह उनके प्रति हुए अन्याय का जिक्र बड़ी बेचैनी के साथ करती हैं। हिंदी जगत से सुनीता जैन को वह सम्मान कभी न मिला जिसकी वह हकदार थीं। तकलीफ़ के साथ मृदुला जी

लिखती हैं- '2017 में सुनीता जैन का 76 वर्ष की आयु में निधन हो गया। छ माह घातक रूप से बीमार रही पर कम लोगों को पता चला। वे लोगों की हमदर्दी नहीं अंत तक रचनाशील रहना चाहती थीं इस विश्वास के साथ कि लिखा शब्द व्यर्थ नहीं जाता। अपार कष्ट में अंत तक लिखते रहना एक अचंभा था। आंखों की तकलीफ़ के बावजूद बड़ी उम्र तक लिखते रहने के लिए कृष्णा सोबती की हज़ारां तारीफ़ हुई पर सुनीता के लिए किसी लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार ने एक शब्द न कहा' (पृ. 365)

विदेशी लेखिकाओं के साथ बिताए गए जीवंत पलों को भी लेखिका बड़ी आत्मीयता के साथ सहेजती हैं। हां, बल्ब वाले सरदार जी अर्थात् खुशवंत सिंह का किस्सा थोड़ा जुदा जरूर है जिसे पढ़ते हुए गुस्सा भी आता है और हंसी भी। सन 1998 के गमज़दा दिनों का अवसाद पाठकों को भी दुख और तकलीफ़ से भर देता है लेकिन लेखिका का उससे उबर जाना राहत के सुखद झोंके की तरह लगता है।

जिंदगी में कुछ रिश्ते खून के होते हैं, कुछ कागज़ के तो कुछ मन के। मन और प्रेम का रिश्ता सबसे ज्यादा मजबूत होता है और अस्सी वर्षों का लंबा जीवन जी चुकी लेखिका के पास खून के रिश्तों के अलावा ऐसे रिश्तों की कमी नहीं है जिनके बल पर वह अपने दुख-अवसाद, बीमारियों और परेशानियों के गह्वर से बाहर निकल आईं। उन सभी लोगों को वह बड़े स्नेह से याद करती हुई उनके प्रति आभार प्रकट करती हैं। उनमें उनकी मुंहबोली बेटी, घरेलू सहायिका, घरेलू सहायक आदि भी शामिल हैं और वे सभी अपने आप में बेमिसाल हैं।

पुस्तक : वे नायाब औरतें

लेखक : मृदुला गर्ग

प्रकाशन : वाणी प्रकाशन

पेपरबैक्स प्रथम संस्करण 2023

मूल्य : 495

अपनी पाककला में दक्ष दादी और धाकड़ पर समर्पित सेविका आयाजी से शुरू होनेवाली इस कथा को वे अपने परिवार की सबसे छोटी नायाब औरत अर्थात् अपनी पोती शृंगी तक ले जाती हैं। स्त्री मन वाले पुरुष सखाओं को वे 'नर काया में अंतरंग नारी सखी' में पूरे मन से याद करती हैं जिन्होंने जीवन के दुखों से जूझने और उबरने में उनकी सहायता की। फिर इन सबके बीच में नादिया की कथा भी है जो विचलित तो करती है लेकिन साहस भी देती है कि हारना या मरना कोई विकल्प नहीं है। अपनी लड़ाई हर हाल में जारी रखनी है।

एक सजग और संवेदनशील लेखिका द्वारा लिखी गई नायाब औरतों की इस बेमिसाल कथा को पढ़कर निःसंदेह अच्छा लगा, बस एक सवाल मन में उठता रहा कि लेखिका ने सबकी कथा लिखते हुए क्या अपनी निजी कथा को कम विस्तार दिया है ? 'मिलजुल मन' में भी उनके पारिवारिक, सामाजिक और लेखकीय जीवन की कुछ झलकियाँ मिली थीं जिन्हें इस किताब में न केवल विस्तार मिला है बल्कि उसमें कुछ नये आयाम और अध्याय भी जुड़े हैं। इसमें उनके जीवन से जुड़े तमाम बेमिसाल किरदार जिनमें उनके बहुत नजदीक के रिश्तेदार, बहनें, सहेलियां, बहनों की सहेलियां, मौसियां, चाचियां, मामी आदि तो हैं ही, इसके अलावा हर उस किरदार को जगह मिली है जिसने लेखिका हृदय को तनिक भी स्पंदित या उद्वेलित किया है। लेखन, अनुवाद से जुड़े प्रसंगों के साथ ही साहित्यिक- अकादमिक संगोष्ठियों से जुड़े ढेरों किस्से भी इस किताब में शामिल हैं जिनके माध्यम से साहित्य जगत की उठापटक या राजनीति को बखूबी समझा जा सकता है। साहित्य की एक चर्चित लेखिका की आपबीती जो जगबीती भी है, को पढ़ना स्वयं को समृद्ध करना है।

समीक्षक : गीता दूबे

पूजा अपार्टमेंट, फ्लैट संख्या ए 3,

द्वितीय तल,

संपर्क : 58 ए/ 1 प्रिंस गुलाम हुसैन शाह रोड, यादवपुर, कोलकाता -700032, मो. -9883224359

‘अच्छ बताओ तो

हमेशा सड़क पर सोते लोग ही क्यों मरते हैं ?

हमेशा मजलूमों की बस्ती-गांव क्यों जलते हैं?

कश्मीर में सिर्फ भोली जनता दिखती है बौराई

तुम पर आज तक खरोंच भी नहीं आई?’ (बस, अपना जवाब चाहिए-86)

ऐसी कई पंक्तियां ही नहीं, ऐसी कई कविताएं हैं इस संग्रह- ‘अंतस की खुरचन’ में जो कवि के कंसर्न को सामने लाती हैं। यतीश कुमार ऐसे कवि नहीं हैं जो अपनी विचारधारा को परदे की ओट से छिपाकर रखे। उनके यहाँ जो कविता में है, इंशाअल्लाह जीवन भी उनका वही है। मैं सिर्फ संग्रह पढ़कर यह नहीं कह रहा हूँ। एक ही शहर में रहते हुए और मिलते-जुलते हुए जो देखा है, महसूस किया है; उसी आधार पर यह कह रहा हूँ। नहीं तो जिस समाज से उनका रोज का नाता है, वहाँ ऐसे प्रश्न पूछना कुफ्र समझा जाता है। ऐसे प्रश्नों को पूछने के लिए ‘जो घर जारे अपना’ का साहस चाहिए होता है और एक जेनुइन कवि चाहे जो हो, कायर और डरपोक नहीं हो सकता कि प्रश्नों को देख कर, मुंह फेर कर चलते बने। तो यह प्रश्न कि ‘तुम पर आज तक खरोंच भी नहीं आई।’ स्पष्ट कर देती है कि तुम अर्थात् सामने वाले को यतीश कुमार अर्थात् कवि अच्छे से जानता-पहचानता है। कवियों के लिए ‘आप’ सिर्फ ईश्वर होता है बाकी सभी ‘तुम’ होते हैं, चाहे वे ईश्वर के दूत ही क्यों ना हो या ईश्वर के चमचे-बेलचे? इसलिए इंसानों को तो तुम कहना उसका मौलिक क्यों जन्मसिद्ध अधिकार है। यह तुम स्पष्ट रूप से कवि की आंखों में खटक रहा है जिस पर आज तक खरोंच भी नहीं आई।

यह ‘तुम’ कौन हैं से याद आते हैं धूमिल जिन्होंने कभी इसी तरह तल्ख भाषा में पूछा था, -‘मैं पूछता हूँ / यह तीसरा आदमी कौन है? और मेरी देश की संसद मौन है।’ वास्तव में कविता ही आपके विचारों की वाहक होती है। कविता से समझ में आता है कि आप किस तरफ हैं। आप किन के लिए कविताएं लिखते हैं। क्यों लिखते हैं? कविता से आप चाहते क्या हैं? किसी कवि की पहली किताब हो और उसकी पहली कविता ही ‘किन्नर’ हो और उसकी शुरुआत और अंत की पंक्तियों पर नजर डालें थोड़ा-

‘साथ नहीं खा सकता भात

पर चावल के दाने

तुम पर ही फैंकता हूँ

नौ महीने के अविरल प्रेम का
मैं भी पैगाम था
ओलनाल कटने तक
मैं भी इंसान था

अब मैं इंसानों की श्रेणी से इतर
इंसानों को ही आशीषें बांटता
त्रिशंकु हूँ और अंत में
'समानता का हक मिलने पर भी
अवहेलना की नसें जुड़ी रह गई

और अब भी मैं
समाज की बजाई हुई ताली में
एक चीख मात्र हूँ।'

तो कवि कि पक्षझरता पर और कुछ कहने-
लिखने की जरूरत नहीं है।

यतीश कुमार की पक्षधरता का वितान काफी बड़ा है। गांव से लेकर नगर, महानगर से लेकर विश्व के सारे सवाल यहां हैं जो मनुष्य की मनुष्यता का बचाव करते हैं। वे जितने अपने गांव 'किऊल:मेरी कविताओं की धौकनी' के कवि हैं, उतने ही कयामत के दिन के भी कवि हैं। कवि है संसार के। वास्तव में इस संसार को कवि ही बचाए रखने की वकालत करता है, मनुष्यता को बचाए रखने की वकालत करते हुए। इसीलिए कवि उनकी तरफ से बोलता है जिनकी तरफ से कोई नहीं बोलता। वह 'भूल' हो जाने या 'भूल' करार दिए जाने की तरफ से बोलता है। जहां लड़के की चाह में सबसे आसान नुस्खे की तरह 'भूल' कह कर छुटकारा पाए जाने को अपनी कविता में दर्ज करता है। कोलकाता की लेखिका निर्मला तोदी की कहानी 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' की याद आती है जहां लड़कियों को गर्भ में मारने की दारुण कथाएं दर्ज हैं। ऐसी कई कहानियां याद आती

हैं जहां बच्ची के जन्मते ही मां उनका गला घोट देती है। यतीश कुमार की ढेर सारी कविताएं हमारे समय-समाज की इन तल्ख सच्चाइयों का कच्चा चिट्ठा बयान करती हैं।

यतीश कुमार की कविताओं के समय- समाज के कई पक्षों में से एक पक्ष कोलकाता का भी है। किऊल यदि कविताओं की धौकनी है तो कोलकाता प्राणवायु। उनकी कविताओं में कोलकाता दाल में नमक की तरह नहीं, बल्कि दाल में दाल की तरह आता है। एकदम ठोस उपस्थिति। कवि कोलकाता में रहता है। उसे जीता है। उसे अपनी आत्मा के पास प्रिय की तरह रखता है। उसमें रमा है। यतीश की कविताएं कोलकाता के ढेरों ऐसे चित्र आपके सामने प्रस्तुत करती हैं और ये चित्र स्याह नहीं चटक रंगों के हैं। एकदम वास्तविक चित्र। यथार्थवादी नहीं, वास्तविक। उनकी कविताओं में जहां भी 'शहर' शब्द आये, वहां कोलकाता रख दीजिए तो कविता अपना अर्थ विस्तार करती है। एक उदाहरण काफी होगा- 'शहर के छोर से

हर बार गुजरते हुए लगा
शहर दो डग भर लेता है
जमीन थोड़ा और खिसक लेती है'

अब इस कविता के मर्म को समझना ज्यादा आसान है। 'शहर' शब्द इस कवि की कविताओं का 'बीज शब्द' (key words) है जिस से इस कवि की कविताएं खुलती हैं। यह शब्द इतनी बार आता है कि आप संग्रह से गुजरेंगे तो लगेगा कवि कोलकाता की बातें कहते हुए थकता नहीं। वास्तव में हर कवि का अपना शहर होता है। किसी का पटना, किसी का भोपाल किसी का बनारस तो यतीश कुमार का कोलकाता। कोलकाता यतीश कुमार की कविताओं की धुरी है जिसके चारों ओर उनकी कविताएं घूमती रहती हैं। संग्रह से गुजरते हुए इस शहर के इतने शेड्स दिखेंगे कि पाठक चमत्कृत होता है। शहर को

खुली आंख से देखना और एक कवि की आंख से देखने में जितना अंतर होता है, वह यहां उपस्थित है। हर कोई कोलकाता आने पर या कोलकाता का रहनवीस जरूर विक्टोरिया मेमोरियल के ऐतिहासिक बिल्डिंग को देखता है पर एक कवि उसे अपनी आंखों से नहीं; 'विक्टोरिया: एंजेल की नजर से' देखता है और पाठकों को दिखाता है। कोलकाता की जो 'स्टील फोटोग्राफी' इस कविता में है, वह काफी काव्यमय है। उसी तरह 'भूतनाथ घाट' को याद करते हुए एक कविता है। एक कविता है 'भोर पांच बजे का यह शहर' जो शुरू होती है-

'समय के विरुद्ध खड़ा है
एक बेजुबा मकान
अपने कंधे पर उठाए
एक बरगद छतनार' जिसके अंतिम बंद है-
'मेरे शहर!
ओ मेरे कोलकाता शहर
तू भी दिल्ली बनने को तैयार
क्यों छोड़ रहा अपनी परिचित
रफ्तार चाय की गुमटी पर
कुल्हड़ भर चाय के साथ बीड़ी सुलगाए
एक कवि सोचता है...
और पीता है सभ्यता से निकला विष!

'यह शहर की चिंता, प्रेम को बचाने की चिंता है और बहुत सारी बातों के अलावा एक खास बात की तरफ हमारा ध्यान बरबस खिंचा चला आता है जिसका जिक्र ऊपर मैंने किया है-स्टील फोटोग्राफी। ऊपर की चार पंक्तियां जहां एक बेजुबा मकान चुपचाप खड़ा है, अपने कंधे पर एक बरगद का भार उठाएं। यह पंक्तियां कोलकाता के उन मकानों का स्थिर चित्र नहीं है क्या जिससे कोलकाता, कोलकाता की तरह दिखता है या कोलकाता कोलकाता बनता है ? है। अलबत्ता है।

कोलकाता पर मिर्जा गालिब से लेकर केदारनाथ सिंह, शैलेंद्र, नीलकमल, विजय गौड़, निर्मला तोदी

आदि कवियों ने एक से बढ़कर एक कविताएं लिखी हैं। लेकिन यतीश कुमार की कविताएं 'स्थिर चित्र' की तरह है जो देर तक मस्तिष्क में बनी रहती हैं। 'स्टील फोटोग्राफी' कविताएं या कविताओं में 'स्थिर चित्र' काफी है यतीश कुमार के पास। इन चित्रों का निर्माण होता है काव्य बिम्बों की धड़ाधड़ उपस्थिति से। एक ही कविता में बंद दर बंद लगातार और तेजी से इमेजेज उपस्थित होते जाते हैं जैसे लगता है आप कोई 'डॉक्यूमेंट्री फिल्म' के शाट दर शाट को स्क्रीन पर उभरते हुए देख रहे हैं। या बड़े-बड़े पोस्टरों की एक अंतहीन अनुपस्थिति से पूरा संग्रह चमक रहा है। बिम्बों की एक माला में मनके की तरह गुंथी हुई हैं ये सारी कविताएं। वास्तव में बिंब कवि को क्यों न प्रिय हो ? क्योंकि कवि केदारनाथ सिंह कह कर गए हैं-'एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उस की विशेषता और उस की आधुनिकता सब से अधिक उसके बिम्बों में ही व्यक्त होती है।' (तीसरा सप्तक, पृष्ठ-123) थोड़ा और देखें-'कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूं बिम्ब विधान पर। बिम्ब विधान का संबंध जितना काव्य की विषय वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त। चित्रों के प्रति मेरे मन में जो आकर्षण हैं; उसके कुछ कारण हैं। प्रकृति बहुत शुरू से मेरे भावों का आलंबन रही है। मेरा घर गंगा और घाघरा के बीच में है। घर के ठीक सामने एक छोटा-सा नाला है जो दोनों को मिलाता है। मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बराबर टकराती रहती हैं। खुले कछार, मक्का के खेत और दूर-दूर तक फैली पगड़ंडियों की छाप आज भी मेरे मन पर उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस दिन थी, जब मैं पहली बार देहात के ठेठ वातावरण से शहर के धुमैले और शतशः खंडित आकाश के नीचे आया।'

(वही, 122) इतना लंबा उद्धरण देने का एक खास उद्देश्य है। कोई भी कविता अचानक से मन की मौज में आकर नहीं उपस्थित हो जाती है। वह समय की छलनी से छनकर परत दर परत 'गाद' की तरह जमा होती है और सालों बाद 'हिमालय' की तरह धीरे-धीरे खड़ी होती है। स्मृतियाँ कविता की वही गाद है। यहां केदारनाथ सिंह के गद्य के बरक्स यतीश कुमार के गद्य के एक टुकड़े को देखें जो संग्रह शुरू होने से पहले एक तरह से आत्म वक्तव्य की तरह है तो हम यतीश की कविता को और उसकी बिंब धर्मिता को समझ पाएंगे। 'मेरे बचपन के शहर को दो हिस्सों में बांटती किऊल नदी, अक्सर स्मृतियों में नमी पैदा कर जाती है। वह स्मृतियों के समागम के कछार पर मेरे भीतर उतरी अपनी अलौकिकता के साथ बहती रहती है। उसके तीर पर बचपन से ही सुनाई पड़ती बुद्ध की पदचाप का महत्व तब ठीक से समझ में आया जब मैं जीवन में दोबारा उसकी तलाश में निकला। उसकी तलाश मेरी अपनी खुद की तलाश भी थी। बचपन की स्मृतियों में हरहराती नदी को बाहर ढूँढते-ढूँढते कब उसे अपने भीतर भी ढूँढने लगा, यह पता ही नहीं चला। लगा, बचपन की वह नदी मेरे जैसी ही थी।' क्या आपको दोनों गद्य के टुकड़े यह नहीं बताते कि बिंब निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत कहां होती है?

यतीश कुमार का संग्रह दो हिस्सों में बंटा है। पहला हिस्सा- 'देशराग और आसपास' है और दूसरा हिस्सा है- 'साझा-धागा'। कोई कवि जब अपने संग्रह में इस तरह का विभाजन करता है तो ऐसे ही हवा में नहीं करता। वह कुछ सोचता-समझता, बुझता है तब करता है। यह विभाजन भी काफी सोची-समझी हुई है। पहले खंड का शीर्षक 'देशराग और आसपास' में वैसी ही कविताएं हैं जो देश की चिंता करती हैं। साथ ही साथ अपने पड़ोस का भी। कोई भी कवि

सबसे पहले व्यक्ति और नागरिक होता है। इसलिए मुक्तिबोध ने लिखा था- 'मर गया देश / और जीवित रह गए तुम।' वास्तव में कुछ वैसे ही चिंताएं एक नागरिक और व्यक्ति के तौर पर यतीश कुमार के यहां भी हैं। वह नदी की चिंता में व्याकुल हैं। व्याकुल है कलकत्ते की चिंता में। व्याकुल अपने पड़ोस और देश के लिए। कविता से देश धीरे-धीरे जब गायब हो रहा है तब एक नागरिक होने के नाते कवि 'देश राग और आसपास' की चिंता कर रहा है। यह हल्के में लेने वाली बात नहीं। ऊपर से कोढ़ में खाज यह कि यह नागरिक जीविका के लिए उन्हीं पर निर्भर है जो 'भारत भाग्य विधाता' है।

साहस, एक आम नागरिक को सिर्फ साहस ही कुछ बना सकता है। सच कहने का साहस कि 'राजा नंगा है' ही एक नागरिक को कवि बना सकता है। कायर कवि हो ही नहीं सकता क्योंकि कवि तलवार की धार पर चलता है। यतीश कुमार सच्चे कवि हैं और सच्चाई के लिए जिस धार की जरूरत है, वह उनके यहां हैं। 'मुजफ्फरपुर और डॉक्टर कफील', 'भूख', 'ए दिल्ली है मेरी जान', 'शिनाख्त' और 'हिंसा' जैसी कविताएं साहस से रची जाती हैं। इन कविताओं की विषय वस्तु यथार्थपरक है जो दिखता तो सबको है पर कुछ लोग ही लिख पाते हैं। जो लिखता है वही कवि होता है। पहला खंड जो 136 पृष्ठों में फैला है। देश की चिंता और अपने आस-पड़ोस की चिंता से लबरेज हैं।

दूसरा खंड 'साझा- धागा' के रूप में 54 पृष्ठों में फैला हुआ है। यह खंड सचमुच 'साझे का धागा' है। यह 'घर, मां, पिता, बच्ची, प्रेम, बुक सेल्फ में पड़ी किताबें, पत्नी के प्रति' इतनी प्रेमिल कविताएं हैं कि जब-जब आप इन से गुजरेंगे लगेगा कि पहली बार गुजर रहे हैं। वास्तव में हर व्यक्ति के लिए उसके पिता- माता या बच्चे सबसे खास होते हैं। उनकी

कुछ विशेषताएं होती हैं जो उन्हें उनसे अलग करती हैं। इसलिए पिता पर आप चाहे जितनी कविताएं पढ़ें, हर बार एक नए पिता को आप पाएंगे अपने पिता के अंदर या इस कविता में- 'ज्ञान की नदी पार करते वक्त /पिता का कंधा पुल था/ जो कभी नहीं झुका' (पृष्ठ-179) पिता को अलग से रेखांकित करती हैं ये पंक्तियां। पिता का कंधा, गुरु या शिक्षा दान दाताओं से ज्यादा महत्व का होता है। पिता पर इस संग्रह में पांच कविताएं हैं, जो सीरीज में है लेकिन और भी बहुत सारी कविताओं के पीछे से पिता झाँकते हैं। झाँकते ही नहीं कवि खुद को पिता के ही प्रतिरूप में बदला हुआ पाता है। कई जगह पिता की चिंताओं को आत्मसात करके जीवन पथ पर चलता चला जाता है। खुद में पिता को देखकर अपनी बच्ची से कह उठता है। -'मेरी बच्ची!

लहलहाना जरूर

जब आँधियां चले

तुम जड़ मत हो जाना

जड़ बन जाना

रहना ऋतुओं के असर से बेअसर

बसंत और बरखा को अपने भीतर बचाए।

दुनिया को जीवंत और नम बनाने के लिए। 'जीवन को बचाने के साथ-साथ वह बच्ची का हाथ पकड़ कर खुद को पुनर्नवा करता है। यह कितना आत्मीय चित्र है। यह सब कवि नहीं कर सकते, वही कर सकते हैं जिनकी आत्मा में अभी भी संवेदना के दीये जल रहे हैं। जो अपनों के लिए इतने आत्मीय है कि हाथ बढ़ाओ तो मुट्ठी में आ जाएं।

ऐसे ही आत्मीय चित्र तब नजर आते हैं जब वे अपने आत्मीय लोगों पर लिखते हैं चाहे वे पिता हो, धूमिल हो या 'हम-तुम' हो। आत्मीयता एक अच्छी कविता के लिए आवश्यक गुण होती है जो पाठकों से सीधे संवाद करती है। यह कविता और पाठक के

बीच पुल का काम करती है। वैसी आत्मीयता यहाँ अनायास उपलब्ध है। इसमें सच्चे मन की पारदर्शिता है जहाँ सारे आत्मीय, प्रिय शब्द चित्र के रूप में उपस्थित हैं। इसके लिए यतीश कुमार बधाई के पात्र हैं कि जब जीवन से आत्मीयता गायब होती जा रही है, वे उसे बचाये हुए हैं। ये कविताएं बताती हैं कि कवि लोगों का कितना आत्मीय होगा। बिना आत्मीय हुए ऐसी कविता कोई लिख ही नहीं सकता। ये कविताएं देर तक मेरे पास बनी रही। आशा करता हूँ कि जो भी पाठक इनसे गुजरेगा इनकी आत्मीयता के रंगों से रंगेगा।

एक कविता की चर्चा न की जाए तो घर परिवार की बात अधूरी-अधूरी लगेगी। वह कविता है 'मां की सहेलियां'। कभी ज्योति चावला ने 'मां का जवान चेहरा' लिखा था। लेकिन यह बात याद रखने की है कि वह खुद एक मां-बेटी है। लेकिन यतीश कुमार एक पुरुष-पिता होकर 'मां की सहेलियां' लिखते हैं। पूरी कविता ही उद्धृत करने लायक है, लेकिन पाठकों से आग्रह है कि वे स्वयं इसे पढ़ें। यह कविता एक पुरुष-पुत्र के द्वारा स्त्री विमर्श से ज्यादा एक स्त्री जो मां भी है, के अस्तित्व पर पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा उठाया गया वाजिब प्रश्न है कि कहाँ गुम हो गई मां की सहेलियां जो नादानियों के दिनों उनकी सबसे अच्छी दोस्त थी। मां बनते ही बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है। आखिर क्यों? ये प्रश्न नहीं वे बमगोले हैं जो अभी सुसुप्तावस्था में हैं। ये एक दिन जरूर फूटेंगे। इसी उम्मीद-आशा की अभिव्यक्ति है यह कविता। यह देखने में सामान्य पर अर्थ गाम्भीर्य से भरी हुई कविता है।

जीवन की इतनी प्रतिछवियाँ यहां हैं कि संग्रह 'जीवन की खुरचन' की तरह हमारे समक्ष उपस्थित होता है। जीवन को उसके पूरे लय- गति-छंद में कवि यहां पकड़ने के लिए तत्पर है। वास्तव में

यतीश कुमार की कविताएं एक चित्रकार के डार्करूम की कविताएं हैं जहाँ एक चित्रकार अपने चित्रों के नेगेटिव को अपने हाथों से धोकर दुनिया के उजाले के सामने लाता है। दुनिया उसके चित्रों को देखती है। यतीश कुमार डार्करूम में उन चित्रों को देखते हैं और उसे कविता का जामा पहनाते हैं। इस रूप में वे अलहदा कवि हैं।

वह एक ही जीवन में सारे संसार को देख-पकड़ लेने के लिए तत्पर हैं। इसीलिए लगभग दो सौ पृष्ठों में यह संग्रह फैल गया है। दो सौ पृष्ठ थोड़े ज्यादा होते हैं, लेकिन इससे यह भी सिद्ध होता है कि कवि का अनुभव जगत काफी व्यापक है। व्यापक अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए कई कविताएं सीरीज में चलती हैं। वास्तव में आपके पास कहने के लिए इतना ज्यादा होता है कि कविता जब खत्म होती है तो लगता है कुछ छूट गया। इस छूटे हुए को पकड़ने के लिए एक-दो-तीन से चलकर पांच-छः-सात से दस तक सीरीज वाली कविताएं बनने लगती हैं। यतीश कुमार के यहां कहने के लिए बहुत कुछ है, इसलिए सीरीज में लिखी गई काफी कविताएं हैं।

जीवन के चमकते पक्ष को सभी देखते, दिखलाते हैं। सच्चा कवि उसके स्याह पक्ष को सबसे पहले देखता है। अपनी कलम वहीं रखता है। इसलिए यतीश के यहाँ रंगों की भाषा या रंगों के बिम्ब में स्याह पक्ष सबसे ज्यादा चमकता है। प्रेम कविता में भी उसकी उपस्थिति 'एक और मन जो न कभी थका' की तरह आता है। भाषा उसी मनानुसार ढलती हुई चली आती है, यतीश की कविताओं में।

समीक्षित पुस्तक : अंतस की खुरचन

लेखक : यतीश कुमार, राधाकृष्ण

प्रकाशन : जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051

मूल्य-250/-

संपर्क : विजय सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काज़ी नज़रुल विश्वविद्यालय, पो.काली चौ.

जि. - पश्चिम पट्टमान, आसनसोल - 713340, प.बं., मो. 8250412914

इस से भाषा पर कवि की पकड़ हमें देखने को मिलती है। यह कवि की अपनी भाषा है, यहाँ थोड़ा कच्चेपन की गमक हो सकती है, पर है नहीं। कविता के संभ्रांत पाठकों को ये भाषा खटक भी सकती है लेकिन युवा कविता और युवा कवि की पहचान उसकी अपनी अर्जित की हुई भाषा से बनती है। ये कविताएं अपनी भाषा के लिए भी मुझे आकर्षित करती हैं। उदाहरण देने से मैं बचना चाहता हूँ, पाठक स्वयं भाषा की नदी में उतरे। उसका आस्वाद ले। और कविता का भी। भाषा के साथ-साथ और एक बात, इन कविताओं को पढ़ते हुए कुछ पूर्वज कवियों की याद आती है। यह अच्छी बात है लेकिन एक कविता पढ़ते हुए छायावादी कविता की याद आई। 'निस्तेज शून्य पुतलियों में/रह-रहकर उभरते पृथुल नयन' (पृष्ठ- 162) इसी कविता में ऐसे कई शब्द हैं- 'सिकता-सी, हिमश्रृंग, अग्निशिखा, अदेय' आदि। ये प्रभाव ही 'अंतस की खुरचन' को पहले संग्रह का ताज पहनाते हैं और कविता की दुनिया में एक युवा का स्वागत करते हैं। युवा प्रभावित नहीं होगा और प्रभावित नहीं करेगा तो 'काहे का मैं'? यतीश कुमार की कविताएँ पाठकों को प्रभावित करती हैं। यतीश कुमार खुद हिंदी में कवियों, कहानीकारों, उपन्यास और लेखकों की पुस्तकों से प्रभावित होकर कविताएं लिखते हैं। यतीश कुमार की पहली पुस्तक का यह प्रभाव देर तक और दूर तक हिंदी कविता की दुनिया में रहेगा, मुझे तो ऐसी उम्मीद है, संग्रह पढ़ने के बाद शायद आपको भी हो। आमीन।

समीक्षक : निशान्त

निर्मला तोदी का कहानी संग्रह : रिश्तों के शहर

-संयोगिता वर्मा

‘रिश्तों के शहर’ निर्मला तोदी का पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह की भूमिका लिखते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकर- कथाकार संजीव ने कहा है कि यह ‘कथा लेखन का नया क्षितिज’ है। संजीव ने इसे विस्तार से एक लंबी भूमिका के रूप में लिखा है जो पृष्ठ संख्या-पांच से आठ तक फैला हुआ है। वहीं संजीव जी ने यह भी लिखा है कि-‘निर्मला की कहानियां पीछे मुड़कर उस अतीत और व्यतीत की परछाइयों तथा अनागत की आहटों को पुनरुज्जीवित करने की कहानियां हैं।’ किसी लेखक की पहली पुस्तक पर इस तरह की सुचिंतित टिप्पणी यह बतलाने के लिए काफी है कि लेखक कैसा लिखता है। वास्तव में निर्मला तोदी ने ‘देर आये पर दुरुस्त आये’ मुहावरे को चरितार्थ किया है।

‘रिश्तों के शहर’ में कुल आठ कहानियां हैं। आठों कहानियां एक दूसरे से भिन्न पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं, लेकिन इनमें अंदर ही अंदर एक सूत्रता है। एक खास तरह की लय है जो इन कहानियों को आपस में जोड़े रखती है। आप पढ़ेंगे तो पाएंगे कि हर कहानी के केंद्र में नायिका हैं। स्त्रियां कहानी को गति देती हैं। वे कहानी को आगे बढ़ाती हैं। स्त्री जीवन का हर कोना यहाँ है। यहाँ दुख और सुख साथ में अन्य भावों की अभिव्यक्ति भी अपने खास अंदाज में है। यह अलग बात है कि निर्मला तोदी की नायिकाएं एक खास पृष्ठभूमि, खासकर पढ़ी-लिखी, कोलकाता के मारवाड़ी परिवार से संबंध रखती हैं। कोलकाता की दो और कहानीकार मधु कांकरिया और अलका सरावगी को हम याद कर सकते हैं जो आज भी महत्वपूर्ण कहानियां लिख रही हैं। लेकिन निर्मला तोदी की हर नायिका की कहानी अलग-अलग है। उनकी कहानियों पर किसी दूसरे कहानीकार का प्रभाव या अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों का कोई दबाव कहीं नहीं दिखता। उनकी कहानियों की नायिकाएं कहीं पर छोटी-छोटी बच्चियां हैं (हरि अनंत हरि कथा अनंता), कहीं पर बेटा है जो मां के नाम की चिढ़ी पढ़ रहा है, जिसे उसने माँ के लिए लिखा है, लेकिन कभी भेज नहीं पाया। आज वह उसे सार्वजनिक मंच पर पढ़ रहा है। लेकिन केंद्र में बेटे की कहानी नहीं, उसकी मां की कहानी है (पहली और आखिरी चिढ़ी)। यहां तक कि ‘रिश्तों का शहर’ जिस कहानी के शीर्षक के नाम पर संग्रह का नाम रखा गया है- उसके केंद्र में चार बड़े शहर- कोलकाता, बंगलोर, बम्बई और अमेरिका हैं लेकिन लीड उसे एक स्त्री-पत्नी और उसकी दो बेटियां करती हैं।

निर्मला तोदी का यह पहला संग्रह है और हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं यह देखकर कि पहले संग्रह में ही इतने सधे हुए कलम या परिपक्व ढंग की कहानियां

हिंदी साहित्य संसार को देखने को मिलती हैं। कहीं से भी इन कहानियों को पढ़कर यह नहीं लगता कि नायिका या लेखिका पहली बार कहानी के क्षेत्र में पदार्पण कर रही हैं बल्कि लगता है कि लेखिका का कहानी से बरसों-बरसों का नाता है। इस से पहले निर्मला तोदी के दो काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन पहले कहानी संग्रह से ही 'पूत के पांव पालने में' दिखने लगता है। निश्चय ही निर्मला तोदी आगे चलकर हिंदी साहित्य को और समृद्ध करेंगी।

'ग्राफ़ोलॉजी' इस संग्रह की पहली कहानी है जो हस्तलिपि की लिखावट के आधार पर मन के भाव को व्यक्त करनेवाली कहानी बन पड़ी है। कहानी में नायिका की भतीजी जो पूना शहर से पढ़ कर आई है, 'उसने बताया कि उसने लिखावट पढ़ने (ग्राफ़ोलॉजी) का भी कोर्स किया है। इस विषय के बारे में मैंने थोड़ा बहुत पहले भी सुना था। विषय बहुत ही सचिकर भी लगा था। उससे बात करके मैं अपने आप को रोक नहीं पाई। मुझे भी पढ़वानी थी, अपनी लिखावट। उसे भी बहुत शौक चढ़ा था, नया-नया सीखकर जो आई थी। लिखावट देखकर, पढ़कर इंसान के बारे में जानना, उसका चरित्र, उसकी आदतें, उसकी स्रष्टि, उसकी कमजोरियां, उसकी ताकत और क्या-क्या बताऊँ, पूरा व्यक्तित्व खोलकर सामने रख सकती है वह। क्या सोचते हैं, क्या चाहते हैं, मन में, दिमाग में क्या चल रहा है, क्या छिपा है, क्या कुंडली मारकर बैठा है, सब कुछ। ऐसा हम सोचते हैं कि हम दूसरों के बारे में सब कुछ जानते हैं। लेकिन मजेदार बात तो यह है कि हम अपने बारे में ही बहुत कम जानते हैं।' (पृष्ठ-11) ग्राफ़ोलॉजी अंग्रेजी का शब्द है और उसके बारे में यह माना जाता है कि ग्राफ़ोलॉजिस्ट आपकी हैंडराइटिंग पढ़कर

मनोवैज्ञानिक ढंग से उसकी व्याख्या करते हैं और मन के रहस्य के परतों को खोलते हैं। इसमें भी नायिका अपनी लिखावट के बारे में भतीजी से सुनकर आश्चर्यचकित हो जाती है कि मैं ऐसी हूँ। वह भी बचपन से। बचपन की एक घटना किस तरह आपके पूरे जीवन को प्रभावित करती है। यह कहानी पाठकों को कम शब्दों में बतलाती है। कभी प्रेमचंद ने कहा था - 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक स्तर पर हो।' ग्राफ़ोलॉजी हो या पहली और आखिरी चिट्ठी या नीले फूलों वाली गुलाबी साड़ी और रिश्तों के शहर। इन सब में स्त्री मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान की पड़ताल है। हिंदी कहानी में इससे पहले भी यशपाल के यहां, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती और स्वयं प्रेमचंद के यहां काफी मनोविज्ञान है। लेकिन जिस हिसाब से समय समाज बदला है, उस हिसाब से स्त्री मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान भी बदल गया है। निर्मला तोदी आज के समय के हिसाब से स्त्रियों के बदलते हुए मनोविज्ञान को बहुत अच्छे तरीके से पकड़ पाई हैं। एक स्त्री होने की सहूलियत भी यहां हमें देखने को मिलता है लेकिन इसका कहानी या कहानी कला पर थोड़ा भी फर्क नहीं पड़ता। उनकी कहानियां आज के समय-समाज को प्रेजेंट करती हैं और वह भी आज की समसामयिक समस्याओं को सामने रखती हुई।

संग्रह में एक महत्वपूर्ण कहानी है- 'हरि अनंत हरि कथा अनंता'। इसमें वे दिखलाती हैं कि संपन्न, सुखी, प्रतिष्ठित और दो बच्चों से भरा-पूरा एक परिवार है। पति-पत्नी है उनके दो बच्चे हैं और तीसरा बच्चा जो अचानक आ गया है। वे तीसरे बच्चे को नहीं लेना चाहते। वे यह सोचते हैं कि आज

के समय और समाज में वे क्या मुंह दिखलाएंगे? नायिका जो कि भ्रूण है, अपनी कहानी पाठकों से शेयर करती है- 'उन्हें मैं नहीं चाहिए थी। वे बातें कर रहे थे। उनके पास पाई-पाई का हिसाब जो था। वे तीन बच्चे अफोर्ड नहीं कर सकते। एक बच्चे पर कितना खर्च होता है। दूध-पानी तक का हिसाब। दोनों बच्चे के दो कमरे हैं। अब तीसरे को कैसे कहाँ फिट करेंगे। मेरे लिए उनका घर दुनिया का सबसे बड़ा सबसे सुंदर घर था। उसमें मेरे लिए जगह नहीं थी। सामने पार्क था। बालकनी थी। छोटी अपनी सहेलियों के साथ पार्क में खेला करती थी। मम्मी और माया दीदी दोनों मिलकर सब काम करती थी। मालती मौसी अभय और छोटी के लिए थी। फिर भी मम्मी को लगा, वो तीन बच्चे नहीं संभाल पाएंगी। मैं पूछना चाहती थी आपकी मम्मी ने भी तो छह बच्चों को पाला था।' (पृष्ठ-29) एक नन्ही सी भ्रूण की रूह या जान यह कहानी अपने समान उम्र की बच्चियों को सुनाती हैं। हमें समझ में आता है कि इस समय-समाज में समय कितना बदल गया है। परिवार की धारणा कैसे बदल गई है? हम दो हमारे दो। इसके अलावा हम तीसरे को अफोर्ड ही नहीं कर सकते। यह अफोर्ड नहीं कर सकने की मानसिकता कहाँ से आई है? समाज का एक अनचाहा, दबा हुआ सच इस कहानी की नायिका के मुंह से निर्मला तोदी ने निकलवाया है। यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। परिवार सुखी है। संपन्न है। पढ़ा-लिखा है। उन्हें किसी तरह की आर्थिक दिक्कत नहीं है लेकिन समाजिकता वे जानते हैं कि तीन बच्चों को अफोर्ड करना कितना मुश्किल है। इसीलिए बच्चे को नहीं लेते। आगे छोटी सी बच्ची बताती है- 'उन्हें देश की बढ़ती जनसंख्या की चिंता नहीं थी। मानती हूँ मैं,

हमारे देश में 'हम दो, हमारे दो' का नारा है। लेकिन उन्हें अपनी सुविधा की ही चिंता थी। मैं एक भूल थी जिसे उन्होंने बड़ी आसानी से सुधार लिया था। वे मम्मी के जो पति थे, कहते थे कि सोसाइटी में लोग उनका मजाक बनाएंगे। उन्हें सोसाइटी की चिंता थी, होनी चाहिए। आज के जमाने में कौन पैदा करता है तीन-तीन बच्चे। वे भी कह रही थीं कि मैं अपनी सहेलियों को और सबको कैसे बताऊंगी कि मैं प्रेग्नेंट हूँ। ना बाबा! सब मेरा मजाक उड़ाएंगे। पता नहीं क्या कमेंट मिलेंगे फेसबुक पर... ओह नो! वो बोलती जा रही थी। बच्चों पर खराब असर पड़ेगा। मंदू, छोटी कभी भी एक्सेप्ट नहीं करेंगे। उन्हें भी हमारी तरह अपने फ्रेंड्स के सामने शर्म आएगी। छोटी अपनी गुड़िया, जिसका नाम मिन्नी था के साथ दिन-भर खेलती थी। अपने साथ अपने पल्लंग पर सुलाती थी। स्कूल जाते समय बाय करके जाती थी। क्या मुझे वैसे ही प्यार नहीं करती? एक बार उन दोनों से जानते तो सही।' (पृष्ठ -29) माँ-बाप को अपनी सोसायटी, फेसबुक की ज्यादा चिंता है। उनके बच्चे क्या चाहते हैं या मानवीय कर्तव्य क्या चाहता हैं? इसकी चिंता नहीं है। अब हमारी चिंताओं में फेसबुक, ट्विटर तक शामिल हो गए हैं। इन नई समस्याओं से किस तरह समाज आक्रांत है, इसे लेखिका ने कितने कम शब्दों में उकेर कर रख दिया है।

यह कहानी 'हरि अनंत हरि कथा अनन्ता' भ्रूण हत्या पर एक लाजवाब कहानी बन पड़ी है जिसके अंदर कई कहानियाँ समाहित हैं। यह बूँद में समुन्द्र की तरह है। इस पृष्ठभूमि पर तो एक लघु या पूर्ण उपन्यास ही लिखा जा सकता है और इस कहानी का शीर्षक तो गजब का सटायर है जो हमारे समय-समाज की पीठ पर चाबुक की तरह पड़ता है।

पुस्तकायन

निर्मला तोदी की आठ में से पांच कहानियाँ औपन्यासिक विन्यास लिए हुए हैं। भ्रूण हत्या विषय के अलावा आई एम मी, मैं...इन थोड़े से शब्दों में, पहली और आखिरी चिट्ठी तथा रिश्तों के शहर में एक-एक उपन्यास छिपे हुए हैं। निर्मला तोदी में उपन्यास लिखने की ढेरों संभावनाएं हैं। वास्तव में एक सार्थक कहानी, एक उपन्यास का बीज अपने अंदर छिपाए रहती है। इसलिए श्रीलाल शुक्ल, ज्ञान चतुर्वेदी और अलका सरावगी जैसे समर्थ कथाकारों के पास कहानियां कम और उपन्यास ज्यादा हैं। निर्मला जी के यहां लगभग हर कहानी में एक उपन्यास का बीज छुपा हुआ है।

निर्मला तोदी की कहानियों की एक और विशेषता बरबस ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचती है-संभाषण कला। कहानियों के पात्र जब आपस में बातचीत करते हैं तो वह इतना ध्यानाकर्षक होता है या इतना जीवंत होता है कि दिमाग में रह जाता है। कई बार तो बातचीत से ही कहानी आगे बढ़ती है। उसमें गति आती है और रहस्य के कई सारे परतों को खोलती हैं। मारवाड़ी शब्दों और बांग्ला-अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग कहानी के पात्रों और कोलकाता शहर को आंखों के सामने उपस्थित कर देते हैं। जैसे एक उदाहरण ही काफी होगा-‘उसके होते ही मेरे मुंह से निकला-‘मिष्टी’। विकास गुड़िया बुलाता था। एक दिन बोला-‘अच्छ बताओ तो ये मिष्टी नाम कहा

से आया?’ कलकते से। मिष्टी यानी ‘मीठा’। कितनी मीठी है देखो। अच्छा अब जब बेटा हो उसका नाम रसगुल्ला रख लेना। रसगुल्ला, चमचम, रसमलाई सब...।’ (पृष्ठ-132) यह छोटा सा पैराग्राफ कोलकाता अर्थात् अपने शहर से प्रेम, बातचीत की शैली और विट का एक सुंदर उदाहरण पेश करता है। इसी तरह आई एम मी या मैं...थोड़े से शब्दों में जैसी कहानियां मनुष्य की जिजीविषा और प्रकृति प्रदत्त मानवीय गुणों से लैस है। एक और बात-प्रकृति का इतना सुंदर वर्णन निर्मला जी के यहाँ है कि क्या कहने! लगता है कोई कविता पढ़ रहे हैं। वास्तव में निर्मला तोदी जो मूल रूप में कवियत्री हैं, उस कवियत्री मन ने उनकी कहानियों में प्रकृति का सार्थक और सुंदर ढंग से उपयोग किया है। इसलिए शिल्पगत सुंदरता बिना शिल्प में कोई बड़ा परिवर्तन किए अनायास आ जाता है।

इनकी कहानियां अपने शिल्प में कोई नया प्रयोग नहीं करती। समान शिल्प और गति से चलती है पर अपनी संवेदना में वे समय से काफी आगे हैं। पठनीयता भी काफी है। आप पढ़ने बैठिये तो खत्म किये बिना नहीं उठ पाएंगे और खत्म होने पर लगेगा कि एक अतृप्ति आपके पास आकर बैठ गई है। यह अतृप्ति ही किसी कहानीकार की एक बड़ी उपलब्धि है और भविष्य में निर्मला तोदी से और अच्छी कहानियों एवं उपन्यास के लिए आशा भी।

पुस्तक : रिश्तों के शहर

लेखक : निर्मला तोदी,

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन

मूल्य : 299

समीक्षक : संगयोगिता वर्मा

संपर्क : मानकर कॉलेज, मानकर, पूर्व बर्द्धवान, प.बं., पि.-713144, मो. 8942903287

दाता पीर : साधारण जीवन की असाधारण गाथा

—माला कुमारी

‘दाता पीर’ उपन्यास पढ़ा, इसकी रवानी में डूबती-उतराती चली गई। संघर्ष और प्रेम का यह दर्दनाक आख्यान हृदय के कोमल तंतुओं को स्पर्श करता हुआ एक अधूरापन, एक अजीब-सी कचोट और टीस छोड़ गया।

सुप्रसिद्ध नाटककार एवं कथाकार ऋषीकेश सुलभ द्वारा रचित ‘दाता पीर’ एक अनूठा उपन्यास है।

यह उपन्यास कब्रिस्तान की पृष्ठभूमि में रचा गया है जिसमें लेखक ने अत्यंत निर्धन, निम्न-उपेक्षित मुस्लिम समुदाय के जीवन-संघर्ष का सजीव और संवेदनापूर्ण चित्रण किया है, जो साहित्यकारों की कलम से लगभग अछूता रहा है। इसमें पीरों-फ़कीरों, खानकाहों, दरगाहों और मज़ारों की कथा कही गई है ; शहनाई बजाने वाले मूसीकारों की परम्परा का उल्लेख किया गया है।

मुख्यतः यह कहानी पटना के पीरमुहानी कब्रिस्तान में रहने वाली एक गरीब विधवा रसीदन की है जो परम्परागत रूप से मुजाविरी अर्थात् कब्र खोदने के व्यवसाय से जुड़ी है और पवित्र दरगाहों एवं मज़ारों की सेवा करती है। यही उसकी जीविका के साधन हैं। उसका एक बेटा फजलू जो पोलियोग्रस्त है, एक पैर से ही कब्र खोदने का काम करता है। उसकी दो बेटियाँ अमीना और चुन्नी हैं। पति की मृत्यु के बाद परिवार के भरण-पोषण की सारी जिम्मेदारी उसपर आ गई है।

रसीदन की जिन्दगी दुखों का पर्याय है। वह घोर आर्थिक तंगी, अभाव और प्रतिकूल परिस्थितियों के दंश झेलती हुई अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती है।

वह अपने ऊपर दाता पीर मनिहारी की नेमत को मानती है। मुसीबत की घड़ी में उसके नाना काले फकीर गोया कब्र से निकलकर उसके करीब आते हैं, उससे बातें करते हैं। वह मन की आँखों से उन्हें देखती है जो उसमें जीवन के प्रति आशा और विश्वास का संचार करते हैं।

इस उपन्यास का सबसे खूबसूरत पहलू यह है कि यहाँ मृत्यु की छाया में जीवन का सौंदर्य उद्भासित होता है। सामाजिक विषमता, कठोर संघर्ष और जीवन की अनवरत कठिनाइयों के बीच यहाँ कब्र में मुहब्बत के फूल खिलते हैं, प्रणय के गीत गूँजते हैं, चाँदनी अमृत वर्षा करती है।

हवाएँ, लताएँ, फूल, पेड़-पौधे, प्रकृति के विविध उपादान प्रेम के उत्सव में साथी बनते हैं। नाले, मिट्टी, कीचड़ की सङ्घर्ष के बीच प्रेम की खुशबू साँसों में भर जाती है। जीवन के कटु यथार्थ में निहित रूमनियत और रूहानियत की गूँज हमें सुखद एहसास से भर देती है।

इस कृति में लेखक ने कब्रिस्तान और उसके आस-पास के वातावरण—मुहल्लों, गलियों, सड़कों, चौराहों, दुकानों, वहाँ के बाशिन्दों, उनके कार्य-व्यापार,

लोक जीवन आदि का विशद वर्णन किया है। उन्होंने इतिहास की झाँकी भी प्रस्तुत की है।

लेखक की सूक्ष्म, पैनी दृष्टि कहानी में यथार्थ का गहरा रंग भर देती है, सबकुछ सामान्य और स्वाभाविक लगता है। पाठक कथा के प्रवाह में बहता चला जाता है और पात्रों से उसका रागात्मक संबंध बन जाता है। मीर की शायरी और जगह-जगह पर अमीर खुसरो के गीत कहानी में जान डाल देते हैं।

इस कृति में प्रेम की उदात्त भावना भी हमें आकृष्ट करती है। दाता पीर और मनिहारी का प्रेम हो या जूबी-समद और अमीना-साबिर का; प्रेम का दुखद अंत हमें मर्मांतक पीड़ा से भर देता है।

यहाँ मिलन नहीं विछोह है। यह आत्मा का उत्कट प्रेम है। प्रेम में फना हो जाने में सुख है। सुलभ जी पर सूफी चिन्तन का प्रभाव है। यह उनकी लेखनी का ही कमाल है कि वे साधारण जीवन को भी असाधारण बना देते हैं।

इस उपन्यास में बदलती सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों, अव्यवस्था, बदलते आपसी संबंधों पर दृष्टिपात किया गया है। रचनाकार ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय एकता, भ्रातृत्व और समरसता का संदेश दिया है। द्रष्टव्य है—‘रसीदन की हैसियत मुहल्ले में बेटी-बहन जैसी थी।’

बबीता और राधे जैसे पात्र परस्पर सौहार्द-प्रेम और अपनत्व की मिसाल पेश करते हैं।

इस रचना में सुलभ जी की चिन्ता विलुप्त होती पुरानी कला और लोक संस्कृति के प्रति झलकती है और वे इसकी पुनर्स्थापना का संदेश भी देते हैं। साबिर का साबिर अलीबरख़्शा बनकर शहनाई के सुर छेड़ना इस बात का द्योतक है।

भाषा की दृष्टि से भी यह उपन्यास सशक्त और प्रभावशाली है। सुलभ जी शब्दों के कुशल शिल्पी हैं और मानव मन के चितेरे हैं। इनकी भाषा पात्रों, वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल है।

पुस्तक : दाता पीर

लेखक : हृषिकेश सुलभ

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन

मूल्य : 299/-

सम्पर्क : हाउस नंबर-C/26, कंकड़बाग हाउसिंग कॉलोनी, टेम्पो स्टैंड के निकट, पटना-800020, मो.

8942903287

उर्दू के शब्दों की बहुलता के साथ इसमें परिनिष्ठित हिन्दी तथा बोलचाल के क्षेत्रीय, ठेठ शब्दों, बोलियों का भी प्रयोग है।

इस उपन्यास का अंतिम भाग दर्द के घने अंधकार में आशा का हल्का प्रकाश लेकर आता है।

फजलू की मृत्यु के बाद उसकी माँ रसीदन और बहन अमीना उसकी कब्र खोदती हैं, शव पर मिट्टी डालती हैं, दुआएँ पढ़ती हैं। यह दृश्य अत्यंत हृदय विदारक है पर वे दोनों निर्विकार भाव से अपने काम को अंजाम देती हैं।

जब समद कहते हैं—‘बाजी, हम आ गए हैं। यहीं रहेंगे आपके पास....’ तो सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि रोशनी की एक किरण लाख अँधेरे को चीर देती है।

‘क्रुद्ध नभ के वज्रदंतों में उषा है मुस्कुराती।’

इस उपन्यास में मुझे स्त्री पात्रों ने विशेष रूप से प्रभावित किया है जो भीषण यातनाओं में भी साहस, त्याग, दृढ़ता और आत्मसम्मान के जज्बे को बनाए रखती हैं।

अंततः कहानी में यह संदेश ध्वनित होता है कि परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी विकट क्यों न हों, साहस और निर्भीकता के साथ जीवन की चुनौतियों का सामना करना चाहिए।

‘कुछ सपनों के मर जाने से जीवन नहीं मरा करता है।’

वस्तुतः मानवीय संबंध और मानवीय मूल्य ही सर्वोपरि हैं जो जीवन को शाश्वतता प्रदान करते हैं।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगी कि ‘दाता पीर’ एक उत्कृष्ट, पठनीय, संग्रहणीय और सराहनीय उपन्यास है।

मैं साहित्य की मर्मज्ञ नहीं किन्तु इस उपन्यास को पढ़कर एक जादू... एक सम्मोहन... रोम-रोम में एक सुरूर-सा छा गया है जो अभूतपूर्व है।

समीक्षक : माला कुमारी

अगर ये फ़ैसला है तो फ़ैसला क्या है?

— आशीष दशोत्तर

देखते ही देखते वहां सैकड़ों महिलाएं इकट्ठा हो गईं। बच्चे भी उनके साथ थे, उन्हें भला छोड़ती भी कहां? हाथों में राष्ट्रवादी जागरण का प्रतीक बन चुकी थाली और चम्मच थी। कुछ के हाथ में निष्कृष्टता को जवाब देने के लिए निर्धारित हथियार यानी चूड़ियां थीं। महिलाएं बहुत आक्रोशित थीं। उनके चेहरे का क्रोध बता रहा था कि वे बहुत गुस्से में हैं।

एक छोटी सी मांग थी उनकी कि उनके मोहल्ले में लगाई गई शराब की दुकान हटाई जाए। दुकान के लिए जिस जगह को सरकारी अमले ने बहुत छानबीन और आय उत्पादकता की दृष्टि से बेहतर मानते हुए चयनित किया था वहां शराब की दुकान का महिलाएं विरोध कर रही थीं।

विरोध का यह पहला दिन नहीं था। पिछले दस दिनों से महिलाएं रोज इसी तरह विरोध करती आ रही थीं। महिलाओं का कहना था कि यह रहवासी इलाका है। यहीं पास में दो स्कूल हैं जहां बच्चे नियमित पढ़ने आते हैं। एक सरकारी और दूसरा प्रायवेट। सरकारी स्कूल वाला तो वर्ष भर बच्चों को तरह-तरह की बुराइयों से बचने की शपथ दिलवा सकता है परन्तु इस तरह की दुकान का विरोध नहीं कर सकता। उसका विरोध उसे यहां से कहीं भी फिंकवा सकता है, इसलिए वह मौन साधक बना रहता है। प्रायवेट स्कूल वाले को भी डर तो रहता है लेकिन वह कभी-कभी ऐसे मुद्दे पर मुखर हो जाता है। खैर जो भी हो, इस दुकान से बच्चों पर गलत असर पड़ेगा।

दुकान के इधर एक मंदिर और उधर मस्जिद भी है जहां तमाम बुराइयों से दूर रहने की कामना करने के लिए क्षेत्र के लोग दिन में एक बार अवश्य आते हैं। वार - त्यौहार एक से अधिक बार भी आ जाते हैं।

‘इतने पवित्र स्थान के होने के बाद यहां शराब की दुकान कैसे लगाई गई, क्यों लगाई गई?’ ‘इसे तत्काल हटाया जाए।’ महिलाओं के हाथों में तख्तियों पर कुछ ऐसा ही लिखा था।

लगातार बढ़ते प्रदर्शन और चुनावी माहौल को देखते हुए सरकारी अमले ने महिलाओं को शांत करते हुए कहा, ‘आपकी मांग पर विचार किया जा रहा है। इसके लिए हमने एक समिति गठित कर दी है जो यह पता करेगी कि शराब दुकान लगाने के लिए यह उचित स्थान है या नहीं।’

एक तेज तर्रार महिला ने माथे का पसीना पोंछते हुए कहा, ‘समिति में तो आपके ही लोग होंगे। हमारे मन की बात कौन रखेगा? क्या वह भी आप ही कर लेंगे? हमें भी समिति में शामिल किया जाए।’

महिला का गुस्सा देखते हुए सरकारी अमला संभला। कहने लगा, 'आपकी मांग उचित है। किसी भी कार्य में पूरी पारदर्शिता रहनी चाहिए इसलिए हम जांच समिति में इस बात का ध्यान रखेंगे। आपने अपनी मांग में कहा है कि इस क्षेत्र में दो स्कूल, एक मंदिर और एक मस्जिद भी है, लिहाजा यहां किसी भी पक्ष को अनसुना न रखते हुए इन तीनों प्रभावित पक्षों के एक-एक पदाधिकारी को भी समिति में शामिल करते हैं।'

अमले की बात सुन दूसरी महिला बोली 'लेकिन यह समिति निर्णय कब तक करेगी? तब तक क्या दुकान चालू रहेगी।'

अमले ने कहा, 'जब तक कोई निर्णय नहीं हो जाता दुकान को बंद नहीं किया जा सकता। वैसे भी किसी के 'पेट' पर लात मारना ठीक नहीं है। निर्णय आते ही उस पर अमल किया जाएगा।'

अमले की बात सुन महिलाएं कुछ शांत हुईं और यह उम्मीद करने लगी कि शीघ्र ही कोई फ़ैसला आएगा।

अमला जांच समिति की पहली बैठक बुलाता उससे पूर्व अमले को एक पत्र प्राप्त हुआ, जो शराबी संघ की ओर से था। देखने से लग रहा था कि यह शराब माफिया द्वारा प्रेरित पत्र है। माफिया की ओर से आए पत्र पर अमला तत्काल संज्ञान लेता है, इसलिए पत्र में की गई मांग पर अमले ने तत्काल गौर किया। पत्र में कहा गया था, 'जहां समिति में आपने सभी पक्षों को शामिल किया है, इसमें हमारा प्रतिनिधित्व नहीं है। शराब दुकान से लाभान्वित होने वाले हम हैं। हमारी सुविधाओं को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए इसलिए हमारा भी एक प्रतिनिधि इसमें शामिल होगा।'

सरकारी अमला तो जैसे इसकी राह देख ही रहा था। तुरन्त शराबी संघ के एक प्रतिनिधि और शामिल किया गया। इस तरह कोरम पूरा हुआ।

अमले की पहली बैठक आहूत गई। अमले ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि हमें इस क्षेत्र में शराब दुकान खोलना है और जहां दुकान खोली गई है, वह हमारे अनुसार उचित है। इस पर स्कूल के प्रतिनिधि ने आपत्ति ली। 'इस मार्ग से बच्चे गुजरते हैं। दिन-रात शराब की दुकान को देखेंगे तो उन पर कैसा असर पड़ेगा?'

सरकारी अमले ने कहा, 'भविष्य में उन्हें जिस परिस्थिति का सामना करना है उससे यदि वे अभी से परिचित होते हैं तो इसमें बुरा क्या है? वैसे भी आप स्कूल में बच्चों को हर प्रकार की शिक्षा देते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान भी होना चाहिए कि शराब कहां, कब और कैसे मिलती है। इसी से तो वह सीख पाएंगे कि शराब से दूर रहना चाहिए। अगर आप उन्हें इस उम्र से ही शराब को करीब से देखने का मौका देंगे तो वे बड़े हो कर कभी उसके करीब नहीं जाएंगे। उनके मन की भ्रांतियों को निकलने दीजिए। उन्हें समझाइए कि शराब खराब है, तो वे इस दुकान से दूर होकर गुजरेंगे।'

मंदिर के प्रतिनिधि ने तत्काल कहा, 'लेकिन पूजा स्थल आने-जाने वालों का तो ध्यान रखिए।' इसी के सुर में सुर मिलाते हुए मस्जिद के प्रतिनिधि ने भी अपनी बात रखी, 'पांचों वक्त्र आने वाले नमाज़ी शराब की दुकान के सामने से गुजरें, यह ठीक नहीं।'

सरकारी अमले ने फिर कहा, 'आप व्यर्थ चिंता करते हैं। जो प्रार्थना और इबादत के लिए जा रहा है उसके मन में तो ईश्वर है। उसे इधर-उधर की खबर कहां? वह कभी यह देखता ही नहीं कि कहां पर शराब की दुकान है और कहां पर चने मुरमुरे की। जिसे इन सभी का ध्यान होता है वह इबादत करने वाला कहां हुआ?'

सरकारी अमले की इस तार्किक बात का दोनों प्रतिनिधियों के पास कोई जवाब नहीं था। सरकारी

अमला इस बारे में कुछ निर्णय लेता है इससे पूर्व शराबी संघ के प्रतिनिधि की खुमारी थोड़ी उतरी। वह बोला, 'बिल्कुल ठीक जगह दुकान खोली है आपने। पहले कितनी दूर थी। पीकर आते थे तो आते-आते नशा ही उतर जाता था। अब बीच मोहल्ले में दुकान खोलकर आपने हम पर बड़ी कृपा की है। यहां आपके ग्राहक भी बढ़ेंगे। जो पहले एक बार पिया करते थे, वे चार बार पियेंगे। आपके राजस्व में वृद्धि होगी और हम जैसे लोग परेशान नहीं होंगे। पढ़ाई तो घर में भी की जा सकती है। प्रार्थना और इबादत कहीं भी की जा सकती है लेकिन हम सुरा प्रेमियों के लिए तो एक मात्र यही स्थान है। आखिर हम यहां भी नहीं आए तो कहां जाए?'

अमले ने शराबी की बात का ताली बजा कर स्वागत किया, क्योंकि उसे पता था कि यह बातें शराबी नहीं, शराब माफिया कह रहा है।

सभी पक्षों को सुनने और उनकी संतोषजनक राय से अपनी एक राय बनाते हुए सरकारी अमले ने जांच प्रतिवेदन पर मोहर लगाई। प्रतिवेदन में उसने कहा, 'सभी पक्षों की राय सुनने के बाद यह स्पष्ट है कि बीच मोहल्ले में लगाई गई शराब की दुकान

बिल्कुल उपयुक्त है। इससे कोई कहीं प्रभावित नहीं हो रहा है। विद्यालय, मंदिर और मस्जिद की तरह शराब की दुकान भी किसी मोहल्ले के लिए बहुत अनिवार्य है। यह भी बहुत सीख देती है। जिसे पीना है, वह तो कहीं भी जाकर पी लेगा और जिसे नहीं पीना है वह मोहल्ले में खुली दुकान पर भी जाकर नहीं पिएगा। इसलिए यहां दुकान लगने से किसी को किसी तरह की कोई परेशानी नहीं होगी। अलबत्ता मोहल्ले में हर वक्रत रौनक बनी रहेगी। लोग आते-जाते रहेंगे। दुकान पर हरदम भीड़ रहेगी। रात में भी चोरी छुपे यहां से शराब ले जाने वाले सक्रिय रहेंगे, इसलिए मोहल्ले में कोई चोर दस्तक नहीं देगा। मोहल्लेवासी चैन की नींद सोएंगे। इस दुकान पर होने वाली 'किचकिच' के कारण लोगों में जीवंत संवाद बना रहेगा। इस दुकान के कारण यह मोहल्ला जीता जागता नज़र आएगा। इस जांच के बाद यह हमारी कोशिश होगी कि हर मोहल्ले के बीचों-बीच एक शराब की दुकान अनिवार्य रूप से खोली जाए।'

समिति के निर्णय को पढ़कर महिलाएं हतप्रभ थीं। निर्णय की भाषा उन्हें हाथों में रखी थाली को बजाने के लिए विवश कर रही थी।

संपर्क - 12/2, कोमल नगर, रतलाम -457001 मो. 9827084966

सभी सुधी पाठकों एवं शोधार्थियों से सादर अनुरोध है
कि पत्रिका के लेखों पर चर्चा करें व अपना अभिमत
हमें ई-मेल : muktanchalpatrika@gmail.com पर
भेजने की कृपा करें।

भरोसा शब्द भले ही तीन अक्षरों का है लेकिन अवसर आने पर यह पूरे त्रिलोक को नाप सकता है, भले ही आप कहें कि इसके पीछे वामनी राजनीति है। 'वामन' का मन्तव्य कभी त्रिलोकेश्वर से रहा होगा, पर अब मन्तेश्वर के इर्द गिर्द सिमट चुका है। कहते हैं त्रिलोकी नाथ ने जब समुद्र मंथन किया था, रत्न निकलने तक सभी को उनपर भरोसा था लेकिन त्रिलोक सुंदरी और अमृत घट यानी सत्ता सुंदरी और नौकरशाही को हथियाने की नौबत आते ही देव दानवों का भरोसा दो फाड़ हो गया जिसके चलते विष्णु भगवान को भी तमाम पापड़ बेलने पड़े। उन्हें स्वयं सत्ता सुंदरी का मुखौटा लगाना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि सत्ता पाने के लिए दोनों पक्ष प्रतिबद्ध हुए। राहु और केतु समझदार निकले उनकी भूमिका आज भी यथावत है। भरोसा उनके बीच कन्दुक की तरह इधर उधर भागता दिखाई दे रहा है।

दरअसल राहु और केतु ही आज की नौकरशाही है जो देव और दानवों को प्रोटोकाल का मुखौटा दिखाकर भरोसेमंद बनी हुई है। लेकिन इसी बीच सोशल मीडिया तो प्रोटोकाल का भी बाप निकला और देखते ही देखते खुद को 'किंगमेकर'

साबित करने पर तुल गया और इसे साबित करते हुए उसने एक आम आदमी को सड़क से उठाकर राजसिंहासन पर बिठा दिया, यही नहीं एक अच्छे खासे नेता को चाय वाले का चोला पहना कर सत्ता के शिखर पर पहुंचा दिया।

वैसे सोशल मीडिया कोई नई ईजाद नहीं है। इसे केवल पत्रकारिता और नौकरशाही का गठजोड़। ऐसी पत्रकारिता जो हवा में गांठ लगाने में माहिर हो। खबरों के मन माफिक कसीदे काढ़ने में सक्षम हो साथ ही सत्ता में सेंध लगाने में भी माहिर हो। पत्रकारिता का ऐसा अद्भुत मुखौटा देखकर नौकरशाही के भी कसबल ढीले हो गए। नौकरशाही को लगा अगर उसने इस मुखौटे को वाकओवर न किया तो उनका अपना मुखौटा भी उतर जाएगा। पत्रकारिता पहले भी ऐय्यासी थी और आज भी है। सोशल मीडिया का मन्तव्य भी एक तरह से ऐय्यासी ही है। इसे इस तरह से समझें-जब राजा भोज की दुनिया भर में तूती बोल रही थी अचानक न जाने किस दुरभि सन्धि से एक किस्सागो ऐयार दूरदराज से प्रकट हुआ और उसने सिंहासन बत्तीसी की बत्तीस कहानियां सुनाकर राजा भोज के आस्तित्व को ही

दुनिया से बाहर कर दिया और किस्सा कहानी के अमूर्त नायक को चक्रवर्ती सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। राजा भोज का बज्रूद भी नहीं बचा। इतिहास गया तेल लाने।

सोशल मीडिया ने यह साबित कर दिया कि उसकी तथाकथित ऐयारी बड़े बड़ों को पानी पिला सकती है। नौकरशाही को भी धूल चटा सकती है। तभी से नौकर शाही के साथ नेताशाही भी नतमस्तक है। बस एक दूसरे का मुखौटा बचा रहे। भरोसा का भूत सिर पर चढ़ कर बोलता है, न देखता है, न सुनता है, न समझता है, बस हवा में ही गांठे लगाता रहता है।

राजनीति कूटनीति के भरोसे चलती है। पहले भी कूटनीति सेठाश्रयी होती थी और ब्याजनीति के भरोसे चलती थी अब बदलते समय में भरोसा गड्डु-मड्डु हो रहा है। सरकारों के भरोसे का भी यही हाल है। एक सरकार पांच साल के भरोसे पर आती है। भरोसा टूटते ही सत्ता के खेल से बाहर होते देर नहीं लगती। कभी सरकार गरीबों के भरोसे थी सरकार बदली तो राम भरोसे हो गयी। अब हाल यह है कि राम मंदिर बने न बने सरकार उनके नाम पर बनती बिगड़ती रहती है। खैर भरोसा मंदिर पर हो न हो, कभी वह सीबी आई के भरोसे था। अब अदालत के भरोसे पर टिक गया है।

जो फंस गए वे न्याय की देवी को अंधा बता रहे हैं और जो बच गए वे स्वयं को अदालत की

दूरदृष्टि के कायल जता रहे हैं। अब चाहे सूखे का मुद्दा हो या डांस बार अथवा बैंकों के घोटाले का भरोसा दरकता रहता है। जनता का भरोसा कब तक किस पर टिका रहता है यह समय ही बताएगा। धर्म तक से लोगों के भरोसे पर ग्रहण लगने की स्थिति आ गयी है। विधायिका और न्याय पालिका पर लगते ग्रहण को देखते हुए न्याय पालिका पर ही भरोसा बचा है। दूसरा और विकल्प भी क्या है। भरोसे के खम्बे में चाहे कितनी ही दरारे हों कहलाता भरोसे का खम्भा ही है। भरोसे का कन्धा न हो तो भरोसे के धंधे का क्या होगा। धंधे का खेल खेलने वालों को भरोसा बनाये रखने की जिम्मेदारी होती है। देश सेवा जब धंधे में बदल गया हो तो अंधे को भी मालूम है कि बिना मेवे के देश सेवा करने का जमाना लद गया। अगर मेवा भी सड़ा निकल गया तो भरोसे को कन्धा बदलते देर नहीं लगेगी। यह दौर ही दूसरा है। अब राजनीति भी कंधे पर बंदूक लेकर चलती है। वे दिन लद गए जब टोपी को लाठी बनाकर कोई नेता निकलता था तो बड़ी से बड़ी ताकतें उसका लोहा मानती थी। उसकी टोपी लाठी को भी मात करती थी। अब राजनीति भले ही कितनी ही मजबूत हथियारों से समृद्ध हो गई हो पर वह भरोसे की लाठी कहीं भी नज़र नहीं आ रही है। उल्टे भरोसे पर गाँठपर गाँठ लगती जा रही है। भरोसा किस घाट जाकर लगेगा? खुदा खैर करे!

संपर्क : सी पी 5, सेक्टर सी, अलीगंज पत्रकार कालोनी, लखनऊ 226024, मो. 9335276946

जब हम किसी इलाके में पहली बार जा रहे होते हैं तो बड़ी उत्सुकता होती है उसे देखने, की जानने की। हम पीछे सरकते जा रहे दृश्य को गौर से देखते हैं। जो खेत सरपट भागे जा रहे हैं उनमें क्या बोया है। इन्हें बोने वाले लोग कौन हैं? उनके गाँव कैसे होते हैं। जब कोई नया स्टेशन आने वाला होता है उसके शहर की बाहरी बसावट दिखने लगती है। फिर शहर दिखता है... और उसकी अपनी गंध। हर शहर की अपनी गंध होती है। उस नए स्टेशन में उतरने वाले लोग चले जाते होंगे अपने अपने गांवों में जहाँ उनका घर होता है, उनकी बोयी हुई फसलें होती हैं। उनके अपने खानपान और तीज-त्योहार, अपने उत्सव और रीति रिवाज होते हैं। उनके अपने उपासना गृह और होती है इन सबसे बनी उनकी संस्कृति जिनमें वे रचे बसे होते हैं। इनमें साफ सुथरे दिखते हुए लोग ज्यादातर श्वेतवस्त्र धारी हैं।

यह सौराष्ट्र का वृहत्तर हिस्सा था जिसमें काठियावाड़ भी है। एक स्टेशन आ गया। एक गुजराती मित्र गुन्देचा का फोन आ गया 'कहाँ पहुँचे हो?' मैं कहता हूँ कि 'जामनगर' वे कहते हैं कि "भव्य ऐतिहासिक नगर है जामनगर। अपनी चमक धमक में दिन और रात में अलग अलग दिखता है। जिन्ना भी यही के थे कराची जाने से पहले।" इतिहास का एक पन्ना फड़फड़ाया। एक ऐसा चरित्र सामने खड़ा हुआ, कहा जाता है जिनकी जिद्द में विभाजन हुआ था।

अंतिम वायसराय ने बंटवारे पर चर्चा के लिए जिन चार लोगों को चुना था। वे थे-गाँधी, नेहरू, पटेल और जिन्ना। इस चौकड़ी में एक को छोड़कर तीन गुजराती थे जो माउंटबेटन की नज़र में अनेक योग्यताओं के बाद भी भिन्न किसम से अड़ियल और जिद्दी थे। इनमें गाँधी किसी भी तरह से देश टूटने न पाए इस जिद्द में रहे पर वे बचा न सके और देश टूटा।

पटेल माउंट बेटन के आने से पहले ही विभाजन को मान लेने को तैयार थे ताकि यह हर दिन की खिंट खिंट समाप्त हो और स्वतंत्र भारत का निर्माण कार्य शुरू हो। जिन्ना ने एक हिन्दू स्त्री ऐमीबाई से ब्याह भी किया था पर पाकिस्तान जिन्ना की जिद पर बना। गाँधी कहते थे कि 'मैं अपने जीवन में दो लोगों को नहीं समझ सका- एक अपने बेटे हरिलाल को और दूसरा अपने काठियावाड़ी साथी मुहम्मद अली जिन्ना को'।

जामनगर स्टेशन राजकोट के बाद आया था। जामनगर में जिन्ना और राजकोट में गाँधी रहे।

राजकोट कभी सौराष्ट्र की राजधानी रहा था। मोहनदास के पिता करमचंद गाँधी सौराष्ट्र के दीवान थे। मोहनदास पोरबन्दर में अपना बचपन बिताकर शालेय

यात्रा वृत्तांत

शिक्षा के लिए यहां आ गए थे। यहीं उन्होंने अपना बचपन संवारा तथा अपनी जिन्दगी के प्रारम्भिक दिनों को राजकोट की गलियों में बिताया था। गाँधी जी के घर में अब एक बालमंदिर खुल गया है। अपने शहर दुर्ग के बालमंदिर में हम जाते थे उसका नाम कस्तूरबा गाँधी बालमंदिर था। अब बाल मंदिरों को नर्सरी स्कूल कह दिया जाता है।

अपने स्कूली जीवन में मोहनदास एक शांत और अकादमिक रूप से साधारण छात्र थे, जो खेल या पाठ्येतर गतिविधियों में भाग नहीं लेते थे। उन्होंने अपनी स्कूली शिक्षा के बारे में कहा है कि मुझमें अपनी क्षमता के प्रति कोई उच्च सम्मान नहीं था। जब भी मैं कोई पुरस्कार और छात्रवृत्तियां जीतता तो मुझे आश्चर्य होता था। स्नातक स्तर की पढ़ाई के बाद उन्होंने भावनगर के सामलदास कॉलेज में दाखिला लिया। उसके एक साल बाद वे बैरिस्टरी की पढ़ाई करने लंदन चले गए, थे। गाँधी इंग्लैंड में ऊँची शिक्षा अर्जित कर बैरिस्टर बने थे। वे सूट, हैट, टाई पहनते थे। फ्रेंच और लैटिन भाषाएँ बोलते थे। वायलिन-वादन, नृत्य और भाषण कला वगैरह सीख चुके थे यानि वह सब कुछ उनके पास था, जो समय और परिवेश में आधुनिक सभ्य पुरुष बनने के लिए चाहिए था। फिर भी गोरी सभ्यता ने उन्हें स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे एक काले और गुलाम देश से आते थे।

अरसा पहले एक व्यापारी मित्र के साथ पहली बार गुजरात आया था तब इसके साबरमती आश्रम को देखा था। यह आश्रम महात्मा गाँधी की सोच व दूरदर्शिता का मूक गवाह है जहाँ से उन्होंने दांडी यात्रा शुरू की थी। वहां अपेक्षाकृत युवा कस्तूरबा का एक सुन्दर चित्र दिखा था। तब उस समय की देखी हुई एक फिल्म ‘गाँधी माय फादर’ की कस्तूरबा एकदम वैसी ही लगी थी। यह फिल्म महात्मा गांधी

और उनके बेटे हरिलाल गांधी के बीच के अशांत संबंधों की पड़ताल करती है। यह चंदूलाल भागुभाई दलाल द्वारा लिखित हरिलाल के जीवन पर आधारित है। यह अचम्भा है कि इस भाव प्रधान फिल्म के निर्माता एक पेशेवर हीरो अनिल कपूर थे और हरिलाल की भूमिका को अक्षय खन्ना ने जीवंत कर दिया है। फिल्म की शूटिंग दक्षिण-अफ्रीका, मुंबई और अहमदाबाद सहित कई भारतीय शहरों में की गई थी।

गुजरात राज्य के संगठन के समय साबरमती नदी के किनारे एक नई राजधानी बनाई गई थी जिसका नाम ‘गाँधी नगर’ रखा गया।

हम दूसरी बार देश के पश्चिमी छोर में आ गए थे पर यह गुजरात का दक्षिण था जहाँ हमारी यह पहली यात्रा थी। पोरबंदर स्टेशन में उतरते ही सामने ट्रेन पर चढ़े हुए बापू दिख गए। देश के जन-गण-मन से मिलने को आतुर। वे किसी ट्रेन के तीसरे दर्जे के दरवाजे पर खड़े थे। यह इतिहास के एक क्षण का अनमोल चित्र था। पूरे स्टेशन में हर कहीं बापू छाये हुए थे। मैं भारतीय रेलवे की स्थानीयता को पकड़ने की उनकी चेतना का हमेशा कायल रहा हूँ। वाह वाह... भारतीय रेलवे।

प्लेटफार्म नंबर-एक के खम्भे पर एक रेखाचित्र टंगा है जिसमें गाँधी जी का संदेश अंग्रेजी में है- *First they ignore you, then they laugh at you, then they fight you and then you win.*” (पहले लोग तुम्हारी अवहेलना करेंगे, फिर वे तुम पर हँसेंगे, और जब तुमसे लड़ाई करेंगे तब जीत तुम्हारी होगी।”

ट्रेन विलम्ब से आई थी। हमें विश्वास ही नहीं हुआ कि हम अपने गंतव्य तक पहुँच गए हैं।

किसी ने कहा था “पोरबंदर आ गया है।” उतरने पर कहीं स्टेशन का नाम भी नहीं दिखा। मैं और चन्द्रा उतर गए थे। एक सिपाही से पूछा ‘रिटायरिंग रूम?’

“आप काउंटर नम्बर-एक पर चले जाइये वहां से चाबी ले आइए।” काउंटर वाले ने चाबी देते हुए बताया कि “आपने महीने भर पहले बुकिंग करवा ली थी इसलिए कमरा मिल गया। पिछले पंद्रह दिनों से बुकिंग बंद है। पूरे स्टेशन का पुनर्निर्माण हो रहा है।” इसीलिए स्टेशन ध्वस्त होता सा दिखा। कैंटीन भी टूट चुकी है, पानी की बोतल और चाय भी यहां नसीब नहीं हो रही थी। दो दिन रहकर हमने गाँधी जी के मोहल्ले में रहने का निर्णय ले लिया था पर फ़िलहाल हम रेलवे के बसेरे में आ गए थे। यह एक वातानुकूलित रिटायरिंग रूम था। जिसका शयनकक्ष और नहानी दोनों बहुत बड़े थे और सर्वसुविधा युक्त थे। फ़कत पांच सौ रूपयों में हासिल इस कमरे में विशाल डबल बेड, आलमीरा, सोफ़ासेट, ड्रेसिंग टेबल, आराम कुर्सी, गीजर, वॉशबेसिन और सब कुछ। जबकि बाहर होटल में इससे तीन गुना अधिक किराया था और कमरे व सुविधाएँ इसकी आधी भी नहीं थीं। हम तीस घंटे की लम्बी रेलयात्रा की थकान उतारने यहां पसर गए थे। तीन घंटे बाद फिर रात आठ बजे तैयार होकर स्टेशन के कमरे से बाहर आ गए थे। कमरे की बाहरी दीवारों पर गाँधी जी के कुछ चित्र दिखे थे जिनमें गोलमेज बैठकों के दृश्य थे।

स्टेशन के बाहर भी कहीं दंग का नाश्ता नहीं दिखा। एक गुमठी वाले से पूछा “आपके पास क्या है।”

“फाफड़ा और गाँठिया।” जवाब आया “चालीस रुपये प्लेट”। उसने एक डिब्बे का ढक्कन खोला उसमें से बेसन का लोंदा निकाला और उसे बेल काटकर गरम तेल में डालने लगा। थोड़ी देर में गरमागरम फाफड़ा जिसे लम्बी हरी मिर्च और हरी चटनी-भुज्जी के साथ उसने पार्सल बना दिया। हम उसे लेकर ऑटो में बैठ गए। सबेरे सबेरे कप बसी में चाय पीने का चलन आज भी गुजरात में उसके घरों, होटलों, गुमठियों में है। हमारी छत्तीसगढ़ी भाषा में

प्लेट को ‘बसी’ कहते हैं। लेकिन यहां बसी यानि प्लेट को रकाबी कहते हैं। गुमठियों में सीधे प्लेट में भी चाय पिलाने का चलन है। ग्राहक ने प्लेट उठाई और चाय वाले ने केतली से उसमें चाय डाल दी और ग्राहक ने सुड़क सुड़क कर पी ली। गाँधी जी ने तो अपने लिए एक बकरी पाल ली थी, वे चाय से बेखबर बकरी का दूध पीते रहे होंगे जो इतना पाचक होता है कि कई बार बच्चे को मां का दूध न आने से बकरी का दूध पिलाया जाता था। अब तो कई किस्म के डिब्बा बंद दूध आ गए हैं।

ऑटो वाला भी हमारी तरह बुजुर्ग दिखा। पूछने पर अपना नाम बताया “मालदेव गढ़वी।” फिर कहा कि “हमारे गढ़वी लोग गाना बजाना करते हैं भैया, अच्छे लोक-गायक होते हैं।” उसने कहा कि “चलिए... हम आपको बढ़िया गुजराती थाली खिलाएँगे। पर उसके पहले सुदामा मंदिर देख लीजिए।

सुदामा मंदिर पोरबंदर के हलचल भरे बाजार क्षेत्र के बीच में है। कथानुसार राजा कृष्ण ने मित्र की सहायता की। उसके बाद सुदामा द्वारका के पास पोरबन्दर में बस गए होंगे या उनकी भी जन्मस्थली यहीं रही होगी इसलिए इसे सुदामापुरी भी कहा जाता है। हमें प्रसाद रूप में उनका तांदुल (चूड़ा) प्राप्त हुआ क्योंकि सुदामा ने अपनी गरीबी में कृष्ण को चूड़ा ही खिलाया था। यह संयोग है कि हम कृष्ण, सुदामा और गाँधी जैसे सत्य और धर्मनिष्ठ महानायकों की धरती पर खड़े थे और यहां सुदामा- मोहन और मोहनदास की स्मृतियों के साथ चल रहे थे।

जब हम एक दिन सान्दिपनी विद्या-निकेतन जाने के लिए सुदामा चौक आए तो गाँधी जी के सत्य का प्रभाव तो एक ऑटो वाले में दिखा, बोला साहब वहां जाने के लिए आप मुझे दो सौ रुपये क्यों देते हैं उससे अच्छा है सिटी बस से निकल जाइए आप दोनों फ़कत बीस रुपये में और हम चले गए थे

सुदामा बस अड्डे से दस किलोमीटर दूर पोरबन्दर एयरपोर्ट के पास सान्दिपनी विद्या निकेतन। यहां एक विशाल मंदिर है और सौ एकड़ में निर्मित एक शैक्षणिक संस्थान है जो आज की राजनैतिक आकांक्षा में गुरुकुल शिक्षा की दिशा में कदम बढ़ा रहा है।

यहां संस्कृत विद्यालय में केवल ब्राह्मण छात्रों का प्रवेश है। हमने उन्हें स्कूल के मैदान में धोती-कुरता पहने क्रिकेट और व्हालीबाल खेलते देखा। हमने एक धोतीधारी छात्र से पूछा कि “संस्कृत स्कूल से पढ़ने के बाद आप कहाँ जाएँगे?” तो उसने उत्तर दिया कि “आर्मी में जाएँगे वहाँ ‘धर्मगुरु’ का पद है जिसमें नियुक्त हो जाएँगे।” सान्दिपनी विद्या निकेतन के बगीचे में धातु निर्मित चार मूर्तियाँ जो देखने में एक समान दिखती हैं इनमें दो मूर्तियाँ सुदामा और उनकी पत्नी सुशीला की हैं और शेष दो गाँधी और कस्तूरबा की हैं। लेकिन अब राजनीतिक भक्ति-भाव में सार्वजनिक स्थलों पर यहां गाँधी की जगह सुदामा की मूर्ति लगने का चलन बढ़ सकता है। हो सकता है राजकीय पत्र में पोरबन्दर का नाम सुदामापुरी हो जाए।

गाँधी ने जब ‘सत्य के प्रयोग’ नामक ग्रंथ को लिखा था तब ग्रंथ के आरंभ में यह भी लिखा कि “मो सम कोन कुटिल खल कामी, जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी।” अपनी आत्मकथा को लिखने से पहले का यह ‘कनफेस’ यानि आत्मस्वीकृति है जिसमें आत्म-मुग्धता के क्षणों में मुझसे स्वयं की महिमा का कोई मंडन न हो जाए इसलिए आरंभ में ही लिखने की प्रेरणा देने वाली शक्ति से क्षमा याचना कर ली गई थी।

यह पंक्ति कृष्ण भक्त सूरदास की है। जबकि गाँधी मर्यादा पुरुषोत्तम राम और उनके भक्त अनुचर तुलसीदास को अधिक माना करते थे। अपने वक्तव्यों में उन्हें अधिक रेखांकित करते रहे हैं, पर यहां अपनी

आत्मकथा को आरंभ करते समय उन्होंने कृष्ण भक्त सूरदास का स्मरण किया है। अहिन्दी भाषी अन्य राज्यों की तरह गुजरात भी कृष्ण भक्त है। यहां कवियों-लेखकों ने अपने राजा कृष्ण के प्रति अधिक आसक्त होकर लेखन किया है। गायकों, नर्तकों ने रास डांडिया में इतनी धूम मचाई है कि पंजाब के भांगड़ा की तरह इस समूह नृत्य को भी देश भर में प्रसिद्धि मिल गई है।

इतिहासकार भगवान सिंह कहते हैं कि “गाँधी के कृष्ण यशोदापुत्र या कंसवध करने वाले या महाभारत के कूट विशारद कृष्ण नहीं थे, वह निष्काम कर्मयोग का पाठ पढ़ाने वाले कर्मयोगी और अपने प्रति समर्पण भाव रखने वाले भक्त को सभी प्रकार के भयों और दुखों से मुक्त करने वाली परमसत्ता है। वैसे ही कबीर की तरह उनके राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं और कबीर से भिन्न वह निर्गुण नहीं, सगुन राम हैं, पर ‘दैहिक दैविक भौतिक ताप’ से पूरे मानव समाज को मुक्त करने के संकल्प से जुड़े शासक मात्र।” (ग्रंथ ‘स्वातंत्र्योत्तर इतिहास बोध और युगबोध’)। गाँधी रामराज्य का स्वप्न तुलसीदास से, परायी पीर जानने का आदर्श नरसी मेहता से हासिल करते हैं। उन्होंने अपने भ्रमण में पाया कि भारतीय समाज इतिहास में नहीं पुराणों में जीता है। गाँधी ने भी पुराणों का सहारा लिया पर गाँधी के पास आकर पुराण पुरुष दुर्लभ परन्तु मानवलभ्य आदर्शों के प्रतीक बन जाते हैं और उनका पौराणिक घटाटोप स्वतः अलग हो जाता है।

स्वाधीनता संग्राम के दो महानायकों नेहरू रचित ‘हिंदुस्तान की खोज’ और गाँधी का ‘सत्य के प्रयोग’ ये दो विचार गर्भित कृतियाँ विश्वप्रसिद्ध हुई हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में, फ़रवरी को गाँधी ने अपने भाषण में कहा था कि “साहित्य-विहीन जाति को स्वाधीनता नहीं मिल सकती।”

वैष्णव जन तो तेने कहिए भजन के रचयिता पंद्रहवीं शती के संत कवि नरसी मेहता के जिन भजनों को गाँधी जी गाया करते थे वे गुजराती भाषा के आदि कवि कृष्ण भक्त थे। गाँधी कविता को आन्दोलन के लिए एक जरूरी चीज माना करते थे वे कहते थे कि “कविता अगर ओज और वीर रस से भरी हो तो वह सुनने वाले को आंदोलित कर सकती है। किसी आन्दोलन की अगुवाई कर सकती है।” और गाँधी ने अपने स्वाधीनता आन्दोलनों को बेहद सफल बनाने के लिए भक्त कवि नरसी मेहता के गीतों को अपना अस्त्र बनाकर कविता की शक्ति को सिद्ध कर दिखाया था।

गुजरात साहित्य परिषद् में गाँधी जी द्वारा दिया गया भाषण जो ‘हरिजन’ के अंक में छपा है, इसमें वे आगाह भी करते हैं कि जन-समाज को शिक्षित करने के लिए कैसा साहित्य लिखा जाना चाहिए- “यदि मैं किसी साहित्यकार की रचना से उकता जाता हूँ तो इसमें मेरी बुद्धि का दोष नहीं है, दोष उसकी कला का है। शक्तिवान साहित्यकार को अपनी कला को कम से कम इतना विकसित करना ही चाहिए कि पाठक उसे पढ़ने में लीन हो जाए। मुझे खेद है कि हमारे साहित्य में यह बात बहुत कम दिखाई देती है। हमारा साहित्य इस समय ऐसा है कि उसमें से जनता एकाध वस्तु भी ग्रहण नहीं कर सकती। उसमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें वह एक युग, एक वर्ष अथवा एक सप्ताह तक भी टिक सके।”

प्रसिद्ध समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं कि गाँधी जी ने लेखन कौशल कुछ तो साहित्यकारों से सीखा और कुछ साहित्य से दूर रहने वाले व्यापारियों से। व्यापारियों की एक सभा में उन्होंने कहा था “हमने संक्षेप में और प्रसंगानुकूल बोलने की आदत गुजराती व्यापारियों के वातावरण में सीखी होगी।”

प्रसंगानुकूल संक्षेप में बात कहना यह गाँधी जी की विशेषता रही (गाँधी- साहित्य, कला और सौंदर्यबोध)। अपने ग्रंथ ‘सत्य के प्रयोग’ में गाँधी लिखते हैं “मेरी जबान या कलम से बिना सोचे विचारे या बिना बोले शायद ही कोई शब्द कभी निकलता है। याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेख के अंश के लिए मुझे कभी शरमाना या पछताना पड़ा हो। (‘लज्जाशीलता’ मेरी ढाल)।

हम पोरबन्दर वसंत में आए हुए थे। समुद्र की ओर से आ रही हवाएं हल्की ठंडक लिए हुए थीं। रात में अरब सागर का जल बिजली की रोशनी में गाढ़े नीले रंग से चमक रहा था। जब दिन में यहां आए तब इसका पानी थोड़ा हरा दिखा था। देश के पश्चिमी तट पर फैला अरब सागर एक शांत सागर है किसी बड़ी झील के मानिंद। यह देश के पूर्वी तट के बंगाल की खाड़ी जैसा नहीं जो उग्र और सुनामी लाने वाला होता है। फिर भी पोरबन्दर के समुद्री तट थोड़े गहरे होते हैं इसलिए नहाने के लिए आदर्श तट शायद नहीं हैं और इनमें नहाते हुए कोई दिखता भी नहीं। तट गहरे हैं इसीलिए पोरबन्दर है जिसका अर्थ होता है बंदरगाह। थोड़ा भय विशालकाय व्हेल का भी है जो कभी कभार इसके किनारों से गुजर जाते हैं। इतिहासकार कहते हैं कि हिंदुस्तान पर आधी सदी राज करने वाले मुगल शहंशाह अकबर ने समुद्र को पहली बार गुजरात में ही देखा था... गुजरात के इन्हीं समुद्री तटों ने देश को महात्मा गाँधी दिया। एक समय छह दशकों का एक ऐसा कालखंड इस देश में आया जब देश का मानव महासागर गाँधी सागर में विलीन हो गया था।

हम गुजरात के अंतिम छोर पर बसे ‘ओखा’ गाँव में खड़े थे जहाँ द्वारका थी। यहां से समुद्र में आगे चलें तो कराची आ जाएगा। ओखा से हमारे शहर दुर्ग के लिए सीधी ट्रेन चलती है।

आज तीसरे दिन सुबह छह बजे पोरबंदर स्टेशन से बाहर चौराहे पर निकला तो दो अपरिचित लेकिन उत्साही नौजवान मिल गए। हम चाय पीते हुए बातचीत में हिलमिल गए। इनमें साहिल बी.सी.ए. कर रहे हैं और विश्वास बारहवीं कक्षा का छात्र हैं। इन अपरिचित साथियों से देर तक गप सड़ाका हुई तब सुबह भी इन नौजवानों की तरह हसीन हुई।

साहिल बता रहे थे कि 'पोरबन्दर इलाके में पढ़े लिखे युवकों के लिए नौकरी के कोई अवसर नहीं हैं इसलिए अच्छी पढ़ाई और प्लेसमेंट के लिए अहमदाबाद की ओर ही हम देखते हैं।

इस समुद्री किनारे में तो बस मछली पालन है जिसे मुसलमानों ने अपना रखा है। हिन्दू मछली पालन से परहेज करते हैं तो उनके हिस्से में यहां सोमनाथ द्वारका जैसे तीर्थस्थानों पर छोटे मोटे रोजगार होते हैं। कहते हैं कि कायदे आजम जिन्ना के दादाजी भी पहले कृष्णभक्त-हिन्दू थे पर मछली पालन के व्यवसाय में उतर जाने के कारण उन्हें हिन्दुओं ने अलग कर दिया और वे इस्लाम धर्म अपनाने के लिए मजबूर हुए और कराची जा बसे थे।

शिक्षा में आज जो व्यवसायीकरण दिखता है उसे बहुत पहले गांधी जी ने भांप लिया था। उन्होंने कहा था कि "हम शिक्षा के मूल्य को इसी तरह आँकते हैं जिस तरह जमीन और स्टॉक एक्सचेंज में शेयरों के मूल्य को आँकते हैं। हम केवल वही शिक्षा देना चाहते हैं जिससे छात्र अधिक से अधिक पैसा कमा सकें। लड़कियाँ, जिन्हें हम कहते हैं कि उन्हें कमाना नहीं, तो उन्हें क्यों शिक्षा दी जाए? जब तक ऐसे विचार समाज में बने रहेंगे तब तक शिक्षा का सच्चा मूल्य जानने की कोई उम्मीद नहीं है।" हम जिस ट्रेन से आए वह बंगाल बिहार की ओर से होती हुई आती है तो उसमें बड़ी संख्या में हुनरमंद बिहारी बंगाली मजदूर काम पर आते हैं जो सूरत, राजकोट,

जामनगर और पोरबन्दर तक आ जाते हैं। ये गुजराती दुकानों में कोई भी काम उठा लेते हैं। विशेषकर सोना पॉलिश करने का काम या फिर गुजरात के फैले हुए कपड़ा उद्योग में लग-खप जाते हैं। मेरे पास बैठा एक बिहारी नौजवान बोल उठता है "भैया.. राजनीतिक उठापटक ने बिहार बंगाल की कमर तोड़ दी है.. ऊपर से इन राज्यों में विपक्षी पार्टियों की सरकार होने से केंद्र सरकार का समर्थन इन्हें मिलता नहीं। क्या करें रोजगार के लिए सब इधर आते हैं।" देश के धुर पूरब से धुर पश्चिम की ओर. ऐसे ही गिरमिटिया मजदूरों के हक के लिए दक्षिण अफ्रीका गए थे वकील गाँधी प्रिटोरिया सरकार से टकराने।

हम दो दिन रहकर रेलवे के रिटायरिंग रूम से बाहर आ गए थे और गाँधी जी के मोहल्ले 'मानेक चौक' के निकट होटल 'शीतल' में समा गए थे। मैंने ऑटो वाले से कहा कि मानेक चौक में गाँधी जी का घर आने से पहले उतार देना। अब हम उस धरती पर थे जहाँ अक्टूबर को मोहनदास करमचंद गाँधी ने जन्म लिया था मानेक चौक की उन गलियों में जहाँ वे चला करते थे, खेला कूदा करते थे। समुद्र के पास बसा यह आज शहर का सबसे पुराना क्षेत्र है। यहां से चारों दिशाओं में सड़कें जाती हैं और पुराने बाजार हैं। सड़क की दोनों ओर छोटी छोटी दुकानें हैं रोजमर्रा के जरूरतों की। मैं पत्नी चन्द्रा के साथ चलता हूँ।

उस सड़क पर जहाँ बाल्यावस्था में ही शादी हो जाने के बाद गाँधी और कस्तूरबा चलते रहे होंगे। बापू के स्वर गुंजते हैं "ब्याह के समय स्कूल में। कितने नौजवानों को ऐसे अनिष्ट परिणाम का सामना करना पड़ता होगा, भगवान ही जाने। विद्याभ्यास और विवाह दोनों एक साथ तो हिन्दू समाज में ही चल सकते हैं... पत्नी के जो बालक जन्मा वह दो या

चार दिन जीकर चला गया. कोई दूसरा परिणाम हो भी क्या सकता था?”

गुजराती के शब्द ‘मानेक’ नाम का मतलब विशेष पर्ल डायमंड का प्रकार होता है जैसे हिन्दी में ‘माणिक’ है। फलित ज्योतिष के अनुसार मानेक नाम के व्यक्ति आत्मनिर्भर, चालाक और प्रतिष्ठा वाले होते हैं, इस नाम के लोग चीजों को काफी गहराई से सोचते हैं और उसे गंभीरता से लेते हैं। ये सपनों से दूर हकीकत में जीते हैं और प्रैक्टिकल होते हैं। मानेक नाम में एक व्यापारी का भरपूर गुण होता है। ये हमेशा दूसरों के सामने सच्ची आंतरिक भावनाओं को व्यक्त करने की कोशिश करते हैं जिससे कई बार लोगों में गलत धारणाएं भी बन जाती हैं जबकि मानेक में एक सभ्य स्वभाव है जो समाज में अच्छी प्रतिष्ठा और मान सम्मान बनाने में मदद करता है। ये दूसरों की मदद करने में विश्वास रखते हैं और परोपकारी कार्यों में काफी आगे आते हैं। एक दोस्त के रूप में, मानेक बेहद सभ्य और भरोसेमंद हो सकते हैं।”

इस नाम के अर्थ और इस शब्द की व्याख्या को हम गाँधी के व्यक्तित्व और व्यवहार के कितने करीब पाते हैं। हम उस मानेक चौक पर खड़े थे जहाँ इस नाम के और इस शब्द की व्याख्या के अनुरूप बालक मोहनदास का अवतरण हुआ था। हिसाब किताब में चुस्त गाँधी कहते थे कि “मैं कठियावाड़ी बनिया हूँ।” हरिजन या स्त्री उद्धार के कामों के लिए सहयोग राशि जुटाने जब वे थैला लेकर निकलते थे तब अपने प्रणाम करने वालों से भी एक सिक्का ले लेते थे।

सामने चौराहे पर फलों का बाजार है जिसके बीच में गाँधी जी की बड़ी मूर्ति लगी है। मैंने गाँधी जी के घर में पहनकर जाने के लिए सफ़ेद सूती कुरता सोमनाथ में खरीद लिया था।

उसे पहनकर मन प्रसन्नचित्त है। चन्द्रा ने भी सादी सूती साड़ी पहन रखी है। हम गाँधी मूर्ति के पास खड़े हो जाते हैं उसे प्रणाम करते हुए एक राहगीर से चित्र खिंचवाते हैं। यहां खड़े होकर एक क्षण को मैं अक्टूबर की उन स्मृतियों में पहुंच जाता हूँ जब यहां से हजारों किलोमीटर दूर छत्तीसगढ़ के एक गाँव पाटन के स्कूल में जहाँ गाँधी शताब्दी वर्ष मनाया जा रहा था। हम विद्यार्थी वर्ष भर तक स्कूल की पढाई से समय निकालकर श्रमदान करते थे। जिसमें गाँव के सार्वजनिक स्थलों, तालाबों, बस स्टैंड आदि की सफाई करते थे।

जुलूस निकालकर गाँधी जी के गाये भजनों को गाते हुए हम चलते और गाँव में शिक्षा स्वास्थ्य व स्वच्छता के प्रति लोगों में जागृति लाया करते थे। फिर शताब्दी वर्ष में हुआ भव्य आयोजन, तत्कालीन मुख्यमंत्री गाँव में आए और गाँधी जी की मूर्ति का अनावरण ग्राम-पंचायत भवन के सामने किया गया।

मैं उन स्मृतियों से लौटता हूँ और आँखें खोलता हूँ तो हमारे सामने गाँधी जी का घर है जिसे यहां कीर्ति मंदिर नाम दिया गया है। मंदिरों के देश गुजरात में गाँधी जी के जन्म स्थल को भी मंदिर कहा गया है। यह भी मान्य था कि यह राम कृष्ण गाँधी का देश है। कहीं-कहीं उन्हें ‘कल्कि अवतार’ भी मान लिया गया था। घर का मूल भवन पहले श्वेत रंग का था अब साज-सज्जा के बाद रंग-रोगन कर दिया गया है। मूल घर का विस्तार कर इसे संग्रहालय का रूप दिया गया है। आजादी के बाद इसका उद्घाटन गाँधी जी के लम्बे समय के साथी सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किया था। स्वाधीनता से पहले सेनानियों की जो त्रिमूर्ति बनी वे गाँधी, नेहरू और पटेल थे। यहां पोरबन्दर में भी इन तीनों की स्मृतियों को संजोया गया है।

यात्रा वृत्तान्त

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भरे नेहरू जी के नाम से शहर में एक 'नेहरू तारामंडल' है। ये तीनों इतने आत्मीय थे कि पटेल अपने रोजमर्रा की बोलचाल में गाँधी को महात्मा और नेहरू को जवाहर कहा करते थे।

हम कीर्ति मंदिर के प्रांगण में प्रवेश करते हैं। परिसर को अत्यंत साफ-सुथरा देख उनके शब्द याद आते हैं कि "मैं स्वच्छता को स्वतंत्रता से पहले आवश्यक मानता हूँ।" यहां देखने वालों की भीड़ है पर कोई शोर नहीं। शांतचित्त हैं सब। हम सब भाव-विह्वल तो हैं पर निःशब्द और निःस्तब्ध हैं। दर्शनार्थियों में हिन्दी भाषी से कहीं अधिक अहिन्दी भाषी दिख रहे हैं।

इस भवन में हिंदू, बौद्ध, जैन और पारसी मंदिरों के साथ-साथ चर्च और मस्जिदों के वास्तुशिल्प मिले जुले हैं। परिसर के बीचोंबीच महात्मा गाँधी और कस्तूरबा गांधी के आदमकद तैलचित्र रखे हुए हैं। चूँकि गाँधी जी देवता नहीं बनना चाहते थे, इसलिए यहां चित्रों के सामने पुष्प मालाओं को नहीं रखा जाता। शब्द, सत्य और अहिंसा उनके जीवन और उपदेशों के प्रतीक हैं, जो उनके चित्र में जड़े हुए हैं। उनका एक हस्तलिखित पत्र लगा हुआ है

जिसमें उन्होंने लिखा है "ईश्वर के नाम तो अनेक हैं लेकिन एक ही नाम दूढ़ें तो वह है सत, सत्य। इसलिए सत्य ही ईश्वर है।"

परिसर की बांयी और चित्र दीर्घा है जिसमें उनकी गतिविधियों के चित्र हैं। ऐसा ही एक बड़ा कक्ष भवन के ऊपर है जिसमें चित्र व गाँधी स्मृतियों से जुड़ी सामग्रियां प्रदर्शित की गई हैं पर वह फ़िलहाल बंद है। ऊपर दो कक्ष और हैं-कस्तूरबा गाँधी पुस्तकालय और कस्तूरबा बालमंदिर है। विदेशों से भी खूब आए हुए हैं गाँधी जन्म स्थली को देखने। हम प्रवेश करते हैं उस कमरे में जहाँ बालक मोहनदास का जन्म हुआ था यहां उनके माता-पिता के चित्र हैं।

एकदम पुराने ढंग का बेहद आत्मीय सा लगने वाला घर जैसा घर है जिसके प्रवेशद्वार पर लिखा है 'पूज्य महात्मा गाँधी जी का जन्मस्थान।' घर में छोटे छोटे कमरे हैं। छोटे छोटे दरवाजे खिड़की जिनके पल्ले हरे रंग के तेल से पुते हुए हैं। उनमें लोहे के सांकल और लकड़ी की पटनियों से बनी सिटकनी लगी हैं। यहां भी लिखा है 'इस कमरे में गाँधी जी का जन्म हुआ था।' वहां पर चरखा चलाते गाँधी का चित्र है।

गाँधी जी के दादा उत्तमचंद पोरबन्दर के जेठवा शासन के दीवान थे। उस समय की एक विधवा रानी इस दीवान परिवार के विरुद्ध हो गई थी और एक रात उत्तमचंद गाँधी के पूरे परिवार की हत्या के लिए हमला रानी ने करवा दिया था पर उनके षडयंत्र की भनक लग गई थी और गाँधी परिवार को बचा लिया गया। अगर सचमुच गाँधी परिवार का अंत उस दिन हो गया होता तो? अक्टूबर को जन्म लेने वाले गाँधी हमारे पास नहीं होते और तब भारतीय स्वाधीनता संग्राम किस दिशा में जाता और कौन से रंग लाता यह एक अलग सोच का मुद्दा होता।

हमारी दृष्टि पड़ती है एक धातु-पट्टिका पर 'पूज्य कस्तूरबा गाँधी स्मारक'। हम उस गलियारे से प्रवेश करते हैं तब गाँधी जी के घर के पीछे कस्तूरबा जी का घर मिलता है। बाहर एक सहायक हैं जो हमें हाथ दिखाकर बुलाते हैं। सहायक मेरा सहनामी है। वे मुझे सपत्नीक आता देखकर प्रसन्न होते हैं। हमें नमस्कार कर घर के अन्दर ले आते हैं। वे बताते हैं "आप अच्छे दिन में आए हैं क्योंकि आज फ़रवरी है और कस्तूरबा जी का पुण्य-दिवस है।" तब हमने भी कस्तूरबा जी के घर में लगे चित्र को प्रणाम किया। हम अपनी पिछली यात्रा में पुणे के आगा खां महल में थे जहाँ गाँधी कस्तूरबा, अंग्रेज सरकार द्वारा

यात्रा वृत्तान्त

नजरबन्द किए गए थे। कस्तूरबा जी और गाँधी जी के सचिव महादेव भाई देसाई का निधन वहीं हुआ था। हमने वहां भी उनकी समाधि पर मौन धारण किया था। गांधी जी के पिता दीवान थे लेकिन कस्तूरबा जी के पिता नगरसेठ थे। 'बा' अधिक समृद्ध परिवार से थीं। उनके चार मंजिलों का मकान है जिसकी हर मंजिल पर हम लकड़ी की बनी सीढ़ियों से चढ़ रहे थे। इनमें चढ़ने उतरने के लिए मोटी खोर बंधी है। मकान का हर कमरा सुसज्जित और कलात्मक है। काष्ठ- कला का काम यहां अच्छा हुआ है। सहायक हमें अपने कक्ष में बिठाकर देर तक हमारे साथ कस्तूरबा परिवार पर चर्चा करते हैं। महात्मा के योगदान के पीछे पत्नी कस्तूरबा के अत्यंत पीड़ाजनक समर्पित जीवन का उल्लेख करते करते उनकी आँखें सजल हो उठती हैं। वे आज की संकीर्ण राजनीति में पुराने महापुरुषों की हो रही उपेक्षा से उदास दिखते हैं। हमें विदा करते हुए वे इतना जरूर कहते हैं कि "भैया आप लोगों से चर्चा करके अच्छा लगा, मन हल्का हुआ है।" लेकिन हम, कस्तूरबा और उनके कष्टदायक जीवन की व्यथा-कथा सुनकर भरे मन से बाहर हो रहे थे।

पोरबन्दर की हमारी अंतिम यात्रा जिस सड़क पर हो रही है वह है 'एम.जी.रोड' यानि महात्मा गाँधी मार्ग। इस नाम से सड़क देश के प्रायः हर शहर में मिल जाती है। यह लम्बी सड़क सुदामा चौक पर स्थित खादी भंडार से निकलती है। सड़क के दोनों ओर गुजराती ढंग के खानपान का समृद्ध संसार है। बाजरे का एक रोट्टा यानि रोटी पचीस रुपये की है... और अपने नामानुकुल खाने वाले के लिए एक ही पर्याप्त है बैगन के भरते के साथ। घी

के बिना फुल्के नहीं खाए जाते। सजी हुई गुजराती थाली में कई कटोरियाँ हैं जिनमें तेल में डूबी सब्जियां हैं। ऐसे ही कई किस्म के आचार अपने तोंगे में डूबे हुए हैं तेल में। हम छत्तीसगढ़ वासी सब्जियों में जितना तेल डालते हैं उससे चार गुना ज्यादा है यहां। दाल मीठी है। इन सबके प्रहार को कम कहने के लिए दोनों वक्त भोजन के बाद छाछ पीने का चलन है।

ऐसे खान-पान के संस्कारों से समृद्ध उर्जा संपन्न महानुभावों के लिए गाँधी जी ने कहा था कि "तुम्हारा भोजन ही तुम्हारा भगवान है, तुम्हारा उदर ही तुम्हारा मंदिर है, तुम्हारी तोंद ही तुम्हारी वेदी है, तुम्हारा रसोइया ही तुम्हारा पुरोहित है। तुम्हारा प्रेम पकाने के बर्तनों में ही उद्दीप्त होता है, तुम्हारी श्रद्धा रसोईघर में तीव्र होती है, तुम्हारी सारी आशा मांस की थालियों में ही छिपी रहती है। बार-बार दावतें देने वाले के बराबर, उत्तम भोजन कराने वाले के बराबर और आदतन मदिरा पिलाने वाले के बराबर तुम्हारे आदर का पात्र कौन है?"

महात्मा के राज्य गुजरात में नशाबन्दी है इसलिए पारिवारिक-सामाजिक वातावरण यहां अपेक्षाकृत शांत व नियंत्रण में है। भारत के जन-मन-धन को संवारने के लिए हमें महात्मा के मार्ग पर आगे भी चलना क्या जरूरी नहीं है? जून को संयुक्त राष्ट्र महासभा (UNO) में ? अक्टूबर को अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित करने के लिए मतदान हुआ था।

महासभा में सभी सदस्य देशों ने अक्टूबर को इस रूप में स्वीकार किया था और गाँधी जन्मदिवस को अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस के रूप में भी मनाया जाने लगा।

संपर्क : मुक्तनगर, दुर्ग छत्तीसगढ़ पिन. 491001 मो. 9009884014.

(1)

मुमकिन है उनकी दुआ ना लगे
पर हमें ग़ैर की बद्दुआ ना लगे
या रब! ऐसी तबीयत देना हमें
वो बुरा कहें, मुझे बुरा ना लगे
बंद कमरे में, सहेजता हूँ जज़्बा
उसे रंजोगम की, हवा ना लगे
बेवफ़ा कहता था, मुझे हर वक़्त
उसे अब फ़िक्र है बेवफ़ा ना लगे
मैं एहसास तक घुटनों पे रहा
ताकि मेरी नमाज़ जुदा ना लगे
मैं टुकड़ों में, जोड़ता हूँ अश्क
इस सुकून से, ग़मज़दा ना लगे
कुछ नुस्ख़ बूढ़ने लगा हूँ सदा
ताकि इबादत में खुदा ना लगे

(2)

बिन बात की बात हमसे की नहीं जाती
सोची-समझी बातें भी, कही नहीं जाती
विशाक्त हो गई हैं- दुनियावी आबोहवा
बस मौसम पे तोहमत मढ़ी नहीं जाती
बेईमान को उड़ने के लिये है- हज़ार पर
और ईमान ज़ख़्मी पैर, कहीं नहीं जाती

ज़ातधर्म की बातें, करता है तो क़ाफ़िर
ऐसी ही नसीहत हमें, क्यूँ दी नहीं जाती
आचमन हो या आबे-जमजम हो मौला
बस दिखावे के लिये उसे पी नहीं जाती
मेहनत से सुलझे हैं- ज़माने के कई हल
चौबारे की फिज़ूल बतकही नहीं जाती
सब कुछ लिखा है तक्रदीर के पन्नों पर
दोज़ख़-जन्नत की अनकही नहीं जाती
भूख से बेहाल रहा करते हैं ग़रीब बच्चे
पर अमीरों की पुष्ट सरग़ही नहीं जाती
ऐसा नहीं मज़लूमों की आँखों से हटे हैं
मेरी आँखों में आई हुई नमी नहीं जाती

(3)

सुविचार आते हैं तो कह कर मना करें
झूठ को सच मान कर अब अर्चना करें
बेईमानी प्रगति का, आधार बन गया है
इस विधा का, नाम जप कर वंदना करें
जम गई है चरित्र पर, अहंकार की बर्फ़
आओ व्यवहार का पानी गुनगुना करें
सच्ची निंदा करनेवाले निंदक बेहतर हैं
गुण- दोष के बल पर उनको चुना करें
औलाद जब कोख पर, लात मारता हो
उसको बचाये नहीं उसकी भर्सना करें

(4)

तराजू से हर मिसरे को तोला न कीजिये
हर बात को हर किसी से बोला न कीजिये
कोई राज़ है तो राज़ पर्दाफाश भी न हो
जहाँ तक मुनासिब हो खोला न कीजिये
बड़ी बात हो तो अपने मेयार के मुताबिक
कुछ सतही हरकतों से मझोला न कीजिये
अनर्गल आज़ार, अब सूखने को आया है
नमक-मिर्च डाल कर फफोला न कीजिये
चिंगारी राख में, सिमट गई तो बेहतर है
उसे क्रुपेद कर अग्नि को शोला न कीजिये

जीवन परिचय

जन्म स्थान : पटना, बिहार, भारत

शिक्षा : एम.बी.बी.एस. (सर्जरी), एफ. आर. सी. एस. (एडिनबरा), एम.आर.सी.जी.पी. (लंडन)।

संक्षिप्त विवरण : कविता-शायरी के साथ-साथ संगीत का शौक विद्यार्थी जीवन से था जो समय के साथ-साथ जिंदगी से जुड़ता चला गया। बचपन में तुकबन्दी करता था पर नियमित रूप से लिखना कॉलेज के दिनों से शुरू हुआ जो 1995 में मेरे इंग्लैंड आने के बाद भी जारी है। विदेश आने के बाद अपनी संस्कृति का गर्व, अपने संस्कार की गरिमा, अपने गाँव की शुद्ध सौंधी खुशबू और अपनी मातृभूमि से अनवरत लगाव मेरी अन्तरात्मा को ज्यादा उद्देलित करने लगा था जिसकी झलक अब भी मैं अपनी कविताओं, गजलों और शैरो-शायरी में हरदम महसूसता हूँ।

2005 में 67 कविताओं की कविता संग्रह प्रकाशित हुई। 2012 में द्विभाषीय कविता संग्रह “किताब जिंदगी की” वाणी प्रकाशन से छपी। 2013 में प्रवासी भारतीयों की कविताएँ ‘देशान्तर’ में कवितायें छपी। ई-पत्रिका ‘अनुभूति’ में कवितायें और गजल छपी है। और त्रिमासिक पत्रिका आधुनिक साहित्य में भी कवितायें प्रकाशित होती हैं।

मैं 15 सालों से गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक संगठन से जुड़ा हूँ और 8 सालों से जेनरल सेक्रेटरी हूँ। इंग्लैण्ड में देश-विदेश के रचनाकारों का हर साल कवि सम्मेलन आयोजित करता हूँ और संचालन भी करता हूँ।

2013 में लक्ष्मीमल सिंघवी एवार्ड से भारतीय काउंसिल लंडन में सम्मानित हुआ और फिर 2013 में ही पद्मानन्द साहित्यिक सम्मान से हॉउस ऑफ लॉर्ड में सम्मानित किया गया।

संपर्क : Z 182 ओखम रोड, ट्विडेल ओल्डवरी, वेस्ट मिडलैंड्स इंग्लैण्ड यू.के., B69 IPY

दृश्य बदल नहीं रहे

हम कभी-कभी ही
लोकल से सफर करते हैं
और बेहाल हो जाते हैं
गर्मी और उमस की मार से
और वे रोटी के सफर में
हर रोज होते हैं
जैसे कि कभी हम भी होते थे
इस जंग में

दृश्य बदल नहीं रहे
लोग वैसे के वैसे
कुछ सहमें, कुछ बेखौफ
बस मोबाइल फोन के सिवा
नया कुछ भी तो नहीं

वेंडरों का जद्दोजहद वही पुराना
काम वाली हों चाहें सब्जी वाली मासी
हंसी के पीछे वही छुपी उदासी

लगभग असंभव

उठ नहीं पाते
गिर गए जो एक बार

नजर के रास्ते
उतर नहीं पाते

जैसे कि टूट गए पहाड़ को
उसकी उसी जगह पर
फिर से खड़ा कर पाना

जैसे कि रास्ता बदल चुकी नदी को
पुराने घाटों तक वापस ले जाना

बहुत मुश्किल से भरा है यह काम
थोड़ा संजीदा बने रहिए श्रीमान

बस सौहार्द्र का
एक सामाजी व्यवहार
हिलते हाथ, किंचित मुस्कान

वहां वापसी
लगभग असंभव

खोना-पाना

सच तो यही
कि हमने बस पाया

-शैलेन्द्र शान्त

क्या खोता
क्या संग लाया था
कि ऐसा होता

क्या देता
जो देना हुआ
वह पाया ही गया था
उसे लौटाया
कितना, यह किसे पता

कालजयी!

समय-काल से मुक्त
अबूझ
आध्यात्मिक
चिंतन से युक्त

रचिये

आसन मिलेगा
चांदी का
सिंहासन सोने का
शायद हीरे जड़े मुकुट भी मिल जाए।

सुकून

आपको क्या मिला वहां जाने से
कभी विचार कीजियेगा

मुझे सुकून मिला

चकाचौंध की उस जगह
को नकार कर

लौटना

पहाड़ जब
मैदान की तरफ जाता है
इतना तेज दौड़ता है
कि लड़खड़ा कर गिर पड़ता है

जख्मी कर लेता है अपने पाँव
हृदय को चोटिल

और फिर धीरे धीरे
मार डालता है
तमाम स्मृतियों को...

सपने में ही संभव हो पाता है लौटना
जैसे महानगरों में समा गए गाँवों का

सोना 'सोना' है!

आधी रात को जग जाना
अपने विचारों में उलझे
बिस्तर पर करवटें बदलना
पौ फटने की प्रतीक्षा करना
कितनी थका देने वाली प्रक्रिया है

जग जाने पर
काश! हम अपने दादा जी की तरह
भजन ही कर पाते
मुँह अंधेरे पूजा के लिए फूल चुनने निकल पड़ते

हम तो बस
एक कप चाय की प्रतीक्षा करते हैं
जो सुबह होने के ऐलान पर
दस्तखत कर सके

सुबह जगना
कितना सार्थक होता है
सूरज के किरणों के साथ
फूल की पंखुड़ियों की तरह
धीरे-धीरे खिलना

रात में जग जाना
जागे-जागे थक जाना
कितना निरर्थक है

खुशनसीब हैं वे
जिन्हें रात भर नींद आती है

सच में
सोना
'सोना' है!

सुख दुःख

सुख और दुःख
दोनों जुड़वां हैं
दुःख हमेशा
छिपा होता है
सुख के ठीक पीछे
कंधा पकड़े
बदन सिकोड़े

सुख के लिए यदि हम कोई
जतन नहीं करते
तो दुःख
सुख को ठेलकर
जीवन के घर-आंगन में
पसर जाता है।

सत्ता

मद में रहता है
चाकू
काटता है- सब्जी व फलों को

लेकिन उसे अहसास नहीं
एक दिन मुलायमियत
कर देती है धार कुंद
बार-बार कटकर

कुंद चाकू!
पड़ा रहता है
रसोई घर के किसी कोने में उपेक्षित
धार दिए जाने की
प्रतीक्षा में ।

काल-चक्र

विकास और विनाश ने
आपस में मिला लिये हैं हाथ

सुना है
एकाध हजार साल के बाद धरती
मनुष्यों के रहने लायक नहीं रहेगी
मनुष्य ही इसके विनाश के कारक बनेंगे
बहुकोशकीय जीव-जंतु
विलुप्त होने के कगार पर होंगे

तब भी राजनीतिक पार्टियाँ
बेशर्मी से चुनावी घोषणा पत्र
जारी कर रही होंगी

अभिषिप्त हैं हम
जहां से चले थे
एक दिन वहीं पहुंच जाने के लिए

शायद हम फिर से जन्म लें
एककोशकीय जंतु
अमीबा की तरह।

आम -आदमी

पांच रुपए की चाय
दो रुपए का बिस्कुट
फुटपाथ की दुकान से खाकर
तृप्त हो जाता हूँ

जीवन की डोर
आम आदमी से जुड़ जाती है।

घर

पूरी दुनिया को बचाने की जिद में
वह अक्सर
'घर' को भूल जाता है

घर
धूप, ताप, बारिश से ही
सिर्फ हमें नहीं बचाता
बल्कि हमारे स्वप्न
हमारे भविष्य को भी जिलाए रखता है

एक बिजूका डाल कर
हो सके तो 'घर' को
बुरी नज़र से बचा लो।

महबूब शहर

स्मृतियों में एक शहर बसा है-
जो कभी माँ बनकर
लोरियाँ सुनाता है
तो कभी पिता बनकर
माथे पर हाथ फेरता है
कभी दोस्त बनकर
चट्टान की तरह पीछे खड़ा रहता है
तो कभी महबूब बनकर
प्यार लुटाता है

साँस की तरह
आता -जाता है
दिल की तरह
हमेशा धड़कता है
जीवन से
कहाँ कभी
अलग हो पाता है।

रेत कला

रेत कलाकार
रेत के कैनवास पर
रेत से उकेरते हैं
समय और समाज के बेहद संजीदा विचार
आकृतियों की भाषा में

आकृतियाँ दस्तक देती हैं
मानवीय संवेदनाओं के बन्द दरवाजे पर
शिद्ध से झकझोरती हैं
जगाती है नींद से

सूरज की आहट से
समन्दर की लहरों पर
रश्मियों की अटखेलियों के
खुलने लग पड़ते हैं
असंख्य द्वार

रेत पर उकेरी कलाकृतियाँ
अपने समय के समाज का
होती हैं
बेहद ज़रूरी और ज्वलन्त मुद्दे

इतिहास से वर्तमान के सफ़र तक
समंदर गाता रहा है
हर्षोल्लास के कोरस संग
जीवन के राग

समंदर की लहरें
रेत की देह पर
रच देती हैं
असंख्य प्रेम कहानियाँ

रेत कलाकार की संवेदनाओं से
गुजरते हुए

रेत पर उकेरी आकृतियों के भावों को
अंतर्मन में सहेजते हुए
रेत कलाकार के पसीने की बूंदों से गीला होते हुए
और भी खारा हो जाता है
ठाठें मारता समंदर

समंदर चाहता है
उसका तमाम खारापन
मनुष्य की संवेदनाओं में घुलकर
नमक बने
ताकि बची रहे संवेदना
बची रहे मानवता
बची रहे पृथ्वी
बची रहे रेत कलाकार के भीतर की कला.

अड्डहास का उत्सव

मछुआरे
नदी में जाल डालते
नदी की गहराई नहीं मापते
नदी का हाल-चाल नहीं पूछते
और नहीं जानना चाहते कभी
पानी का रहस्य
जलक्रीड़ा में तल्लीन
मछलियों के रचना संसार के बारे में
कुछ भी

मछुआरे
सिर्फ जानना चाहते हैं
जाल में उलझी ढेरों मछलियों की शक्ल में
सिक्कों के खनक की तासीर

लकड़हारे
जंगल में उतरते
पूछते नहीं पेड़ों से

हवाओं संग पत्तियों की सरसराहट का राग
लताओं और तनों के मिलाप का प्रणय प्रसंग
फुनगियों पर पक्षियों के कलरव में
लता वितान का कोरस

लकड़हारे सिर्फ जानते हैं
जंगल के रहस्य से परे
पेड़-पौधों के कोमल-कठोर आवरण पर
धारदार कुल्हाड़ियों के प्रहार का गणित

बहेलिये
जाल बिछाते
दानें डालते
जानना नहीं चाहते
परिन्दों की दुनिया का रहस्य
उनकी चहचहाहट का संगीत
उन्मुक्त उड़ान के मायने
घोंसले और पिंजरे के दरम्याँ
आज़ादी की कीमत

बहेलिये
सिर्फ जानते हैं
भवनों, महलों, राजप्रासादों में
धरती-आसमान के बीच
हवाओं में टंगे
पिंजरे का अर्थशास्त्र

शिकारी पुरुष
जानना नहीं चाहते
जंगल और शहर में इंसानों के बीच
जीवन का रहस्य
प्रेम के शाश्वत सौन्दर्य और
बलात्कार के कुरूप कृत्य के
बीच का फर्क
शिकारी मानव
सिर्फ जानते हैं
आखेट की भाषा में
प्रत्येक अमानुषिक कृत्य के बरक्स
अट्टहास का उत्सव।

कैक्टस

शिकारी रचता है
बड़े से बड़ा मायावी प्रपंच
काँटों में गूँथे आटे की माया में
मछुआरे के फेंके जाल में
सदियों से उलझती आ रही है
भोली मछलियाँ
बहेलिये के दानों के इर्द-गिर्द
बिछे जाल से
आखिर क्योंकर अनभिज्ञ रह जाते हैं
नादान परिन्दे

घात लगाए शिकारी भेड़िये
जब-तब टूट पड़ते हैं
शिकार मेमनों पर
क्रूर भेड़िये की तलाश से
क्यों नहीं बच पाते हैं
कोमल मेमने
कितनी भूख!
कितना हवस !
शेष बची रह गयी धरती पर

आक्रान्त आँखें
चम्पा, चमेली, लिली, बेला, जूही
रजनी की शक्तों में
ताज़ी खिली-अधखिली फूलों को
मसल डालने की फ़िराक में लगे रहते हैं
उपवन में माली की लगन को
तार-तार करते शैतानों के वारिस से
बचाए रखने को
नाकाफी है कंटीले तार का बाड़
क्योंकि
कंटीले तार के बाड़ का
अब भरोसा नहीं रहा
भरोसे के लिए
एकमात्र भरोसा
कैक्टस ही है।

संपर्क : ग्राम : दूबेपाड़ा नरसिंह बांध, निकट-वीणा पानी हाई स्कूल, पोस्ट : बर्नपुर,
जिला: पश्चिम बर्दमान पि: 713325, प.ब. आसनसोल, मो. न.-9563030374

छोटे लोग

छोटे लोग हमेशा तादाद में अधिक होते हैं
अक्सर लम्बी होती है उनकी सूची
लम्बे नहीं होते उनके हाथ
नाक ऊँची नहीं होती उनकी
छोटा होता है उनका कद
छोटी होती है उनकी दुनिया
होती है मुट्ठी भर छोटी-छोटी चाहतें

छोटे लोग अक्सर गली-कूचे में रहते हैं
पहनते हैं फूटपाथी कपड़े
चलते हैं फूटपाथ पर पैदल

छोटे लोग अक्सर
लदे-फदे करते हैं गाड़ियों में यात्राएँ
लाईन में खड़े होकर लेते हैं टिकट
मोल-भाव कर खरीदते हैं चीजें
और जैसे-तैसे खीच-तानकर
बिताते हैं जीवन

छोटे लोग अक्सर बड़ी जगह घेरते हैं
पर अफसोस
मुट्ठी भर से ज्यादा जगह नहीं होती पास उनके

छोटे लोगों से ही बनती है बड़े लोगों की दुनिया
उनके होने से ही अक्सर पहचाने जाते हैं बड़े लोग

छोटे लोग भीड़ में तख्तियाँ उठाये
लगाते हैं नारे
और अपनी छोटी-छोटी माँगों के लिए
अक्सर मारे जाते हैं जुलूस में
बड़े लोगों की गोली से

छोटे लोग अक्सर नीचे बैठकर सुनते हैं
बड़े लोगों का भाषण

बड़े लोग मंच पर बैठ
करते हैं बड़ी-बड़ी बहसों
छोटे लोगों पर
चलने को तो बहुत दूर तक चलते हैं
पर कहीं पहुँच नहीं पाते छोटे लोग

छोटे लोग बसाते हैं बड़े-बड़े शहर
और खुद होते जाते हैं
दिन-व-दिन शहर से दूर

छोटे लोग अक्सर डरते हैं बड़े लोगों से
लेकिन जब वे डरना छोड़ देते हैं
तो डरने लगते हैं उनसे बड़े-बड़े लोग।

दृश्यों में जीवन और जीवन के दृश्य

भूखी-प्यासी औरतें
गा रही हैं
ईश्वर को छप्पन भोग लगाने के गीत

बुझा-बुझा सा मुरझाया चेहरा लिए
एक स्त्री बेच रही है
सड़क किनारे गजरा

बातों में मिठास घोलकर
नुककड़ पर चाय बेच रहे आदमी
के जीवन से गायब हो चुकी है मिठास

फूटपाथ पर रंगों की दुकान लगाकर
रंग-बिरंगे गुलाल बेचने वाले
आदमी के चेहरे का रंग उड़ चुका है

त्योहारों में मिट्टी के दीये बनाकर
हजारों घरों को रौशन करने वालों के घर
आज भी डूबे हैं अंधेरे में

कविता

पिताजी का हाथ देखकर
अक्सर उनका भाग्य बाँचने वाले पंडित जी का
भाग्य बदले हमने आज तीस सालों में
कभी नहीं देखा

यह जो लड़का अभी-अभी
सुबह-सुबह हाथ में थमा गया है अखबार
उसकी कभी कोई खबर हमने
आज तक अखबार में नहीं पढ़ी

और यह जो छोटी-सी प्यारी बच्ची
हाथ में छोटा सा तिरंगा लिये
पन्द्रह अगस्त की सुबह-सुबह
हँसती-खिलखिलाती हुई
स्कूल की तरफ दौड़ी जा रही है....

वह नहीं जानती अभी
आजादी किस चिड़िया का नाम है!

बचपन

तीस साल पहले
झाड़ी में गुम हो गयी एक गेंद

एक गुड़गुड़ी
जो उम्र की ढलान से गुड़गुड़ाकर
खाई में जा गिरी
और जिसे सिक से
निकालने की कोषिष में लगा हूँ आज भी

एक खेल
गिल्ली-डंडा का
जिसकी गिल्ली उछलकर
गाँव के स्कूल में बैठे
गुरुजी के माथे पर जा गिरी
और डंडा
जिसे गाँव की गली में छोड़कर
डर से भाग आया मैं शहर

आम के बगीचे में लगा एक झूला
जिसकी रस्सी टूटकर
झूल रही है अभी भी
पिता के सपनों में

बाजी लगाने की होड़ में हारकर
कटकर जा गिरी एक पतंग
जो ठूँठ पेड़ से अटकी
झूल रही है हवा में आज तक

ताखे पर रखी एक उदास गुड़िया
जिसकी उदासी
अभी-अभी थककर सोयी
मेरी बिटिया की नींद में गिर रही है.....

एक गुब्बारा
जो अभी-अभी अचानक हाथ से फूट गया
और जिसके फूटने की आवाज
पास खड़े बच्चों की खिलखिलाहट में
गुम हो गयी.....

खट्टी-मीठी यादों-सी वह इमली
जिसकी मिठास
समय की धूप में सुखकर उड़ गयी
और खटास बची रह गयी जीवन में

दादी के अँचरे से खोलकर
चुरायी गयी वह चवत्री
जो चली गयी दादी के साथ ही
उसके चार आने सेर
मिठाई की बातों की मिठास से घुलकर

अचानक हाथ से छूट.....
गिरकर फूट गया स्मृतियों का वह गुल्लक...
जिसमें इकट्ठी वर्षों की खुशियाँ
फर्ष पर सिक्के के साथ बिखर गई....
और खनक.....
बाजार के शोर में गुम हो गय

सम्पर्क : जनमत शोध संस्थान पुराना दुमका केवटपाड़ा, दुमका - 814101 (झारखण्ड) मो. 9110072128

गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय, बर्मिंघम

रिपोर्ट : गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय के साल 2024 की तीसरी बैठक दिनांक 12 मई 2024 को डाक्टर वंदना मुकेश शर्मा और डाक्टर मुकेश शर्मा के निवास स्थान पर मूनकिद हुई ! इस बैठक में लगभग 40 साहित्यकार, लेखक, कवियों और कवियत्रियों और साहित्य प्रेमियों ने शिरकत की ! इस मीटिंग में हमारे मुख्य अतिथि इंडियन कॉन्सुलेट बर्मिंघम के श्री अमन बंसल और उनकी श्रीमती जी भी शामिल थीं! उपस्थित कवियों और कवियत्रियों ने हिंदी उर्दू में कवितापाठ किया और अपनी बेहतरीन रचनाएं प्रस्तुत कीं! श्री अमन बंसल ने भी अपनी एक कविता प्रस्तुत की और लोगों की दाद वसूल ली !

एजेंडा में शामिल कुछ और विषयों पर तफसील से चर्चा हुई, जिसमें 13 जून 2024 को होने वाले जर्मनी यूके साहित्यिक एक्सचेंज कार्यक्रम पर तफसील से चर्चा हुई और मेहमानों के रहने घूमने और प्रोग्राम के बारे में फैसले लिए गए ! जर्मनी से पांच कवि जून में तशरीफ ला रहे हैं जो गीतांजलि के मेहमान रहेंगे! जुलाई में होने वाले बच्चों के वार्षिक प्रोग्राम पर भी चर्चा रही! यह प्रोग्राम वर्ष 2012 से हर साल गीतांजलि ऑर्गेनाइज करती है जिस में बच्चे अपनी कविताएं सुनाते हैं यह प्रोग्राम हर साल इंडियन कॉन्सुलेट में किया जाता है! सितंबर में होने वाले प्रोग्राम पर भी संक्षिप्त चर्चा रही जिस में हर साल भारत से कुछ कवि यूके तसरीफ लाते हैं। तमाम सदस्यों ने डाक्टर कृष्ण कुमार साहिब को जीवन गौरव सम्मान मिलने पर मुबारकबाद पेश की उन का फूलों से स्वागत किया गया। डाक्टर कृष्ण कुमार साहिब को यह सम्मान कथा यूके और हिंदी अकादमी मुंबई द्वारा 8 मई को नेहरू सेंटर लंदन में आयोजित एक बड़े प्रोग्राम में दिया गया था ! गोष्ठी के बाद डाक्टर वंदना मुकेश शर्मा और उन के परिवार ने बहुत अच्छे भोजन का इंतज़ाम किया था जो सब ने ग्रहण किया। यह एक अच्छा प्रोग्राम और अच्छी शाम रही।

इससे पिछली मीटिंग राखी बंसल और अमित बंसल के घर पर 21 अप्रैल 2024 को हुई, जिसमें कई लोग शामिल थे और कई लोग जूम पर भी जुड़े थे ! जनवरी 2024 की मीटिंग डाक्टर कृष्ण कन्हैया के यहां संपन्न हुई थी जिसमें 40-45 कवियों कवियत्रियों ने शिरकत की थी ! गीतांजलि की अगली मीटिंग 9 जून 2024 को परवेज़ मुजफ्फर के घर पर रखी गई है।

आपकी सूचना के लिए अर्ज है कि गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय की स्थापना 1995 में डाक्टर कृष्ण कुमार और श्रीमती चित्रा कुमार ने की थी और यह संस्था 2025 में अपने 30 वर्ष पूरे करने वाली है जिस के अंतर्गत कुछ बड़े प्रोग्राम का खाका तैयार किया जा रहा है और उस की सूचना आने वाले वक्त में आप सबको दी जाएगी।

प्रस्तुति - चांदनी सिन्हा

जर्मनी एवं यू.के. बीच साहित्यिक-सांस्कृतिक सेतु बंधन संपन्न

जर्मनी की संस्था 'फ्रेंड्स ऑफ इंडियन डायस्पोरा (FOID) एवं यू.के. की गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय के बीच, दो वर्षों के अथक परिश्रम के बाद, बर्मिंघम में स्थित भारत के कौंसलावास में 14 जून 2024 की शाम को सेतु बंधन का यह कार्यक्रम संपन्न हुआ, जिसमें लगभग 120 लोगों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। इसका संचालन गीतांजलि के परवेज़ मुजफ्फर ने किया तथा डॉ. कृष्ण कन्हैया ने इसके प्रायोजक के रूप में अपने विचार व्यक्त किए। उत्तर देते हुए FOID के संस्थापक-अध्यक्ष डॉ. इंग गौतम सागर ने 2025 में गीतांजलि के सदस्यों को जर्मनी आने का निमंत्रण दिया। दोनों संस्थाओं के कुछ सदस्यों ने कविता पाठ किये। मिले-जुले कवि सम्मलेन का संचालन गीतांजलि की डॉ. वंदना मुकेश तथा अध्यक्ष के डॉ. गौतम सागर ने किया। कविता पाठ के प्रतिभागियों को, कौंसलावास के, मुख्य अतिथि श्री अरुण कुमार जी ने प्रशस्ति पत्र प्रदान किये। गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय ने जर्मनी से आए अतिथों, डॉ. गौतम सागर, सुश्रीश्रद्धा मिश्रा एवं सुश्री अनस्तास्या तुर्चीना को "गीतांजलि गौरव सम्मान" से 'शाल' पहना कर सम्मानित किया। ये सम्मान मुख्य अतिथि ने प्रदान किए। 15 जून को गीतांजलि के संस्थापक-अध्यक्ष के घर पर एक अनौपचारिक गोष्ठी भी आयोजित हुई जिसका यथोचित लाभ सबने उठाया। इन कार्यक्रमों का मुख्य आकर्षण रही यूक्रेन में जन्मी हिंदी भाषी-कवयित्री सुश्री अनस्तास्या तुर्चीना।

रिपोर्टर: सुश्री चांदनी सिन्हा, गीतांजलि सदस्य

लेख आमंत्रित

विविध विषयों पर केंद्रित 'मुक्तांचल' के अंकों की पाठकों में बहुत चर्चा हुई है। आलोचकों एवं विशिष्ट लेखकों ने भी उनकी सराहना की है। लोक साहित्य ने लोक-कंठ से निकलकर अब व्यापक अध्ययन एवं विमर्श का रूप ले लिया है।

अस्तु, 'मुक्तांचल' का दिसंबर: 2024 अंक लोक साहित्य पर केंद्रित करने का हमने निश्चय किया है। उक्त अंक का मुख्य विषय होगा: 'लोक साहित्य का सामाजिक संदर्भ' और उप-विषय होंगे —

1. लोक साहित्य में लोक-जीवन एवं संस्कृति
2. लोक साहित्य में लोक-शिक्षा
3. लोक साहित्य में निम्नवर्ग
4. लोक साहित्य में प्रतिरोध के स्वर
5. लोक साहित्य में लोक-संवाद
6. अन्य (किसी प्रदेश का लोक साहित्य, लोककथा, लोकगीत, लोक नाट्य, लोकोक्ति इत्यादि)।

उक्त अंक के अतिथि सम्पादक होंगे डॉ. पंकज साहा। कृपया विषय से संबंधित लेख अक्टूबर 2024 तक 'मुक्तांचल' कार्यालय के पते पर हार्ड कॉपी में अथवा निम्नलिखित ई-मेल पते पर सॉफ्ट कॉपी में भेजें -

[sinhameera48@gmail.com/](mailto:sinhameera48@gmail.com)

[dr.pankajsaha@gmail.com/](mailto:dr.pankajsaha@gmail.com)

+918918818513, 9434894190

परिशिष्ट

समीक्षार्थ पुस्तके प्राप्त हुई		
पुस्तक का नाम	लेखक / लेखिका	प्रकाशन
आजाद भारत के असली सितारे (भाग - 1, भाग - 2)	डॉ. अमरनाथ	सर्वभाषा ट्रस्ट जे-49, स्ट्रीट नम्बर-38 राजापुरी, मेन रोड, उत्तम नगर, नयी दिल्ली-110059
संवेदनाओं के क्षरण काल में	उमेश पंकज	प्रकाशन संस्थान 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली -110002
पिता का मोबाइल नंबर	पूनम शुक्ला	प्रकाशन संस्थान 4268-बी /3, अंसारी रोड, दरियागंज , नयी दिल्ली -110002
एजी, ओजी, लोजी, इमोजी	अरुण अर्णव खरे	इंक पब्लिकेशन, 333/1/1k, नया पूरा, करेली, प्रयागराज, उत्तरप्रदेश - 211016
कोचिंग @ कोटा	अरुण अर्णव खरे	इंक पब्लिकेशन, 333/1/1k, नया पूरा, करेली, प्रयागराज, उत्तरप्रदेश - 211016
संपादकाचार्य बाबूराव विष्णु पराडकर	रामपाल श्रीवास्तव	शुभदा बुक्स, बी- 140/एस -2, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-2,
दोहा-राग	श्यामसुंदर तिवारी	शिवना प्रकाशन पी.स.लैब, सम्राट कॉम्पलैक्स बेसमेंट बस स्टैंड, सीहोर - 466001 (म.प्रदेश)
रोजनामचा एक कवि-पत्नी का	उषा शर्मा	रश्मि प्रकाशन महाराजापुरम, केशरी खेड़ा रेलवे क्रॉसिंग के पास कृष्णा नगर, लखनऊ - 226011
ढाई	सुधीर रंजन सिंह	वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
निर्वासिनी	हरभजन सिंह मेहरोत्रा	विकास प्रकाशन 311सी, विश्व बैंक, बर्रा, कानपुर-208027

इस पार तक.....

सुरजीत पातर

(14 जनवरी, 1945 - 11 मई, 2024)



मेरे शब्दों में

मेरे शब्दों

चलो छुट्टी करो, घर जाओ

शब्दकोशों में लीट जाओ

नारों में

भाषणों में

या बयानों में मिलकर

जाओ, कर लो लीडरी की नीकरी

गर अभी भी बची है कोई नमी

तो मौआँ, बहनों व बेटियों के

क्रन्दनों में मिलकर

उनके नयनों में बूबकर

जाओ खुदकुशी कर लो

गर बहुत ही तंग हो

तो और पीछे लीट जाओ

फिर से चीखें, चिंघाड़ें ललकारें बनो

वह जो मैंने एक दिन आपसे कहा था

हम लोग हर अँधेरी गली में

दीपकों की पंक्ति की तरह जगेंगे

हम लोग राहियों के सिरों पर

उकती शाखा की तरह रहेंगे

लोरियों में जुड़ेंगे

गीत बन कर मेलों की ओर चलेंगे

दियों की फोज बनकर

रात के वक्त लीटेंगे

तब मुझे क्या पता था

औरू की धार से

तेज तलवार होगी

तब मुझे क्या पता था

कहने वाले

सुनने वाले

इस तरह पथराएँगे

शब्द निरर्थक से हो जाएँगे

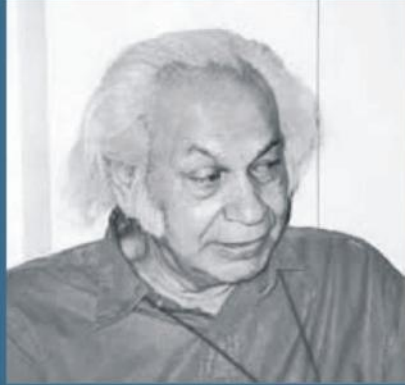
RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

मुक्तांचल - 43

संस्मृति अंक

रमेश कुन्तल मेघ



जन्म : 1 जून 1931 मृत्यु : 1 सितंबर - 2023

व्यक्तित्व और कृतित्व

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आंशुतोष
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा